सम्यग्दर्शन

विषयानुक्रमणिका

1.	सर्वप्रथम तत्त्व निर्णय करें	9
2.	सुख का मूल : सम्यग्दर्शन	13
3.	भेदज्ञान ही मोक्ष का साधन है	18
4.	मात्र बाह्य व्रतादि क्रियाएँ धर्म के साधन नहीं	25
5.	आत्मज्ञान का उपाय प्रज्ञाछैनी	28
6.	धर्म का मूल सम्यग्दर्शन	34
7.	सम्यग्दर्शन पर्याय है, गुण नहीं	35
8.	मोहक्षय करने का उपाय	48
9.	द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप	62
10.	अरहंत का स्वरूप और सम्यग्दर्शन	77
11.	पुरुषार्थ की प्रतीति	79
12.	मोक्षमार्ग में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्थान	88
13.	धर्म की रुचि वाले सर्वप्रथम क्या करते हैं ?	106
14.	सम्यक्त्व की महिमा	112
15.	विकल्पों में स्वानुभव नहीं होता	116
16.	सम्यग्दर्शन का विषय	120
17.	मिथ्यात्व को नष्ट करने की विधि	130
18.	स्वानुभव करने की रीति	141
19.	गृहीत मिथ्यात्व	160
20.	द्रव्य और पर्याय	169
21.	वस्तु की नित्यानित्यात्मकता	172
22.	द्रव्यों की स्वतंत्रता	175
23.	आत्मा का स्वभाव पक्षातिक्रान्त है	177
24.	उपसंहार	181

सम्पादक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८० हजार	१२.००
३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४६ हजार	१८.००
४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	१ लाख ७६ हजार २००	४.००
७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,)	७१ हजार २००	६.००
८. पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
९. बालबोध पाठमाला भाग १(हि.म.गु.क.त.बं.अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)		३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)		४.००
१२. द्रव्यदृष्टि		४.००
१३. हरिवंश कथा		३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन		४.००

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ -

१३ से २३. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)		१६०.००
२४. सम्यग्दर्शन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	१५.००
२५. भक्तामर प्रवचन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	१२.००
२६. समाधिशतक प्रवचन	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	२०.००
२७. पदार्थ विज्ञान	(प्रवचन : पू. श्री कानजी स्वामी)	३.००
२८. गागर में सागर	(प्रवचन : डॉ. भारिल्ल)	७.००
२९. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	(भाषण : डॉ. भारिल्ल)	३.००
३०. गुणस्थान-विवेचन	(ब्र. यशपाल जैन)	१८.००
३१. अहिंसा के पथ पर	(कहानियाँ : जयन्तिलाल)	१०.००
३२. विचित्र महोत्सव	(कहानियाँ : जयन्तिलाल)	१०.००

कुछ महत्त्वपूर्ण वृहदाकार विशेषांक (जैनपथप्रदर्शक) -

३२. समयसार विशेषांक (१९८९)	(४४ लेखों का अनुपम संग्रह)	१०.००
३३. आ. कुन्दकुन्द विशेषांक (१९८८)	(५४ लेखों का अनुपम संग्रह)	८.००
३५. कवि बनारसीदास विशेषांक (१९८७)	(३१ लेखों का अनुपम संग्रह)	५.००

सम्यग्दर्शन

सर्वप्रथम तत्त्वनिर्णय करें

तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्र तथा कुक्षेत्र सभी अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। इसलिये जो पुरुष अपना हित चाहते हैं, उसे सबसे पहले तत्त्वनिर्णय करना योग्य है। तत्त्वज्ञान तरंगिणी में कहा है –

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न।।
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः।।

चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा का स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन खर्च करना पड़ता है, न ही देशांतर में जाना पड़ता है, न किसी से प्रार्थना करनी पड़ती है, न बल का क्षय होता है, न ही किसी तरफ से भय अथवा पीड़ा होती है; और वह सावद्य (पाप का कार्य) भी नहीं है, उससे रोग अथवा जन्म-मरण में पड़ना नहीं पड़ता, किसी की सेवा नहीं करनी पड़ती। बिना किसी कठिनाई के सहजता से उपलब्ध होने योग्य ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्मरण का जब लाभ अधिक है और प्राप्त करने में कठिनाई कुछ भी नहीं, तब फिर समझदार पुरुष उसे क्यों ग्रहण नहीं करते ?

तथा जो तत्त्व-निर्णय के सन्मुख नहीं हुये हैं, उन्हें जागृत करने के लिये उलाहना देते हुये कहा है कि –

साहीणे गुरु जोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाई।
ते धिट्ठदुट्ठ चित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा।।

गुरु का योग स्वाधीन होने पर भी जो धर्म-वचनों को नहीं सुनते, वे

धृष्ट हैं और दुष्ट चित्तवाले हैं। अथवा यों कहें कि वे भवभय रहित हैं, जिस संसार भय से तीर्थंकरादि डरे, उससे भी नहीं डरनेवाले सुभट हैं।

जो शास्त्राभ्यास के द्वारा तत्त्वनिर्णय नहीं करते और विषय-कषाय के कार्यों में ही मग्न रहते हैं, वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्दर्शन के बिना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहारधर्म में (शुभभाव में) मग्न हैं वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये भाग्योदय से जिनने मनुष्यपर्याय पाई है उनको तो शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा तत्त्वनिर्णय करना चाहिए; क्योंकि सर्वधर्म का मूल कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का कारण तत्त्वनिर्णय तथा तत्त्वनिर्णय का मूल कारण शास्त्राभ्यास है। अतः सर्वप्रथम शास्त्राभ्यास अवश्य करना चाहिये।

जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गँवाते हैं उन पर करुणा करके आचार्य कहते हैं –

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु, दुर्लभा सान्यजन्मने।
प्राप्य ये प्रमाद्यंति ते शोच्याः खलु धीमताम्।।६४।।

संसार में प्रथम तो बुद्धि का होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोक के विचार योग्य बुद्धि का होना तो और भी दुर्लभ है; ऐसी बुद्धि पाकर जो प्रमाद करते हैं, मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ नहीं करते; उन जीवों को ज्ञानी बहुत ही शोचनीय दृष्टि से देखते हैं।

इसलिये जिसे आत्मा का हित करना है, उसे सर्वप्रथम शास्त्रों के आधार से तत्त्वनिर्णय ही करना उचित है। जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और मात्र जिनपूजा, व्रत-उपवास आदि बाह्य क्रियाओं में संतुष्ट हो जाता है उसके हाथ मोक्षमार्ग नहीं लगता।

इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा से गुरुओं के उपदेश और स्वानुभव के द्वारा प्रथम तत्त्व का निर्णय करना चाहिये। जिनवचन तो अपार है उसका पार तो श्री गणधरदेव भी प्राप्त नहीं कर सके, इसलिये जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत वस्तुस्वरूप है, उसे निर्णयपूर्वक अवश्य जाननी चाहिये। दोहापाहुड़ में कहा भी है –

अंतोणत्थि सुईणं कालो थोआवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियव्यं जिं जर मरणक्खयं कुणहि।।१८।।

श्रुतियों का अन्त नहीं है, काल थोड़ा है और हम निर्बुद्धि (अल्पबुद्धि वाले) हैं, इसलिये हे जीव ! तुझे तो वह सीखना चाहिये जिससे तू जन्म-मरण का नाश कर सके।

आत्महित के लिये सर्वप्रथम सर्वज्ञ का निर्णय करें

तुम्हें यदि अपना भला करना हो तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त है, उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करो; क्योंकि सर्व जीवों को सुख प्रिय है। सुख भावकर्मों के नाश से प्राप्त होता है, भावकर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से होता है, सम्यक्चारित्र-सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है, सम्यग्ज्ञान आगम से होता है, आगम किसी वीतरागी पुरुष की वाणी से उत्पन्न होता है और वह वाणी किसी वीतरागी पुरुष के आश्रित होती है, इसलिये जो सत्पुरुष हैं उन्हें अपने कल्याण के लिये सर्वसुख का मूलकारण जो सर्वज्ञ हैं, सर्वप्रथम उनका युक्तिपूर्वक भली-भाँति निर्णय करके आश्रय लेना चाहिये।

हम जिनका उपदेश सुनते हैं और जिनके कहे हुये मार्ग पर चलना चाहते हैं तथा जिनकी सेवा, पूजा, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं, ऐसे अरहंत का स्वरूप पहले अपने ज्ञान में प्रतिभासित नहीं हुआ, तब फिर उनके स्वरूप का निश्चय किये बिना किसका स्मरण करते हैं ?

लोक में तो साधारण-सी प्रयोजनभूत बातों का भी निर्णय करके प्रवृत्ति करते हो और मोक्षमार्ग में तुम आत्महित के मूल आधारभूत अरहंतदेव का निर्णय किये बिना ही प्रवृत्ति कर रहे हो, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

फिर, तुम्हें तो निर्णय करने योग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है, इसलिये तुम इस अवसर को वृथा मत गंवाओ। आलस्यादि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ, जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप, जीवादि का स्वरूप,

स्व-पर का भेदविज्ञान, आत्मा का स्वरूप, हेय-उपादेय और शुभ-अशुभ शुद्ध-अवस्थारूप अपने पद-अपद का स्वरूप सर्वप्रकार से यथार्थ ज्ञात हो सके। इसलिये सर्व मनोरथ सिद्ध करने का उपाय जो अर्हंत सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान है, वह जिसप्रकार से सिद्ध हो वह प्रथम करना योग्य है।

प्रश्न :– सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय या निर्णय हमें नहीं हुआ तो क्या हुआ ? यह देव तो सच्चे हैं, फिर इनकी पूजन आदि करना निष्फल क्यों जाता है ?

उत्तर :– यदि तुम्हारी किंचित् मंद कषायरूप परिणति होगी तो पुण्यबंध तो होगा, किन्तु जिनमत में तो देव के दर्शन से आत्मदर्शनरूप फल होना कहा है, वह तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता जानने से ही होगा, अन्य प्रकार से नहीं। प्रवचनसार में कहा भी है –

"तुम लौकिक कार्यों में तो इतने चतुर हो कि वस्तु की सत्ता आदि का निश्चय किये बिना किंचित भी प्रवृति नहीं करते और यहाँ सर्वज्ञ सत्ता का निश्चय न करके अनध्यवसायी होकर बिना निर्णय किये ही प्रवृत्ति करते हो। यह बड़ा आश्चर्य है !

श्री श्लोकवार्तिक में कहा है कि – जिसके सत्ता का निश्चय नहीं हुआ, परीक्षक को उसकी स्तुति आदि करना कैसे उचित है ? इसलिये तुम सर्व कार्यों से पहले अपने ज्ञान में सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करो, यही धर्म का मूल है यही जिनाम्नाय है।

जिन्हें आत्मकल्याण करना है उन्हें पहले जिनवचन के आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुरु का उपदेश तथा स्वानुभव के द्वारा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि से वचन की सत्यता का अपने ज्ञान में निर्णय करके, सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करके उसका श्रद्धान-ज्ञान-दर्शन पूजन भक्ति और स्तोत्र नमस्कारादि करना चाहिए।

जो यह मानता है कि अपना भला-बुरा होना अपने परिणामों पर निर्भर है, और तदनुरूप अपने परिणामों की स्वयं प्रवृत्ति करता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है वही जिनदेव का सच्चा सेवक है।" □

सुख का मूल : सम्यग्दर्शन

सम्यक्त्व ही प्रथम धर्म है और यही प्रथम कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र और तप में सम्यक्पना नहीं आता। सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आधार है। जिसप्रकार नेत्रों से मुख को सौंदर्य प्राप्त होता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन से ज्ञानादिक में सम्यक्पने की प्राप्ति होती है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि–

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनूभृताम्।।३४।।

सम्यग्दर्शन के समान इस जीव को तीनकाल तीनलोक में कोई अन्य कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीनलोक तीनकाल में दूसरा कोई अकल्याणकारी नहीं है।

भावार्थ में कहा है कि अनन्तकाल तो व्यतीत हो गया, एक समय वर्तमान चल रहा है और भविष्य में अनन्तकाल आयेगा, इन तीनों कालों में और अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक – इन तीनों लोकों में जीव को सर्वोत्कृष्ट उपकारी, सम्यक्त्व के समान न तो कोई है, न हुआ है और न होगा। तीनों लोकों में विद्यमान ऐसे तीर्थंकर, इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती नारायण, बलभद्र आदि चेतन और मणि, मंत्र, औषधि आदि कोई भी द्रव्य सम्यक्त्व के समान उपकारी नहीं हैं और जैसा अहित बुरा मिथ्यात्व से होता है, वैसा अहित करनेवाला कोई चेतन या जड़ द्रव्य तीनकाल तीनलोक में न तो है, न हुआ है और न होगा। इससे मिथ्यात्व को छोड़ने के लिये परम पुरुषार्थ करो। संसार के समस्त दुःखों का नाशक और आत्मकल्याण को प्रगट करनेवाला सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसे प्रगट करने का ही पुरुषार्थ करो।

जगत के जीव अनन्त प्रकार के दुःख भोग रहे हैं, दुःखों से सदैव के लिये मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिए वे अहिर्निशि उपाय कर रहे हैं, परन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से जीवों का दुःख दूर नहीं होता, एक न एक प्रकार से दुःख बना ही रहता है। यदि मूलभूत

भूल न हो तो दुःख नहीं हो सकता और वह भूल दूर होने से सुख हुए बिना नहीं रह सकता – ऐसा अबाधित सिद्धान्त है, इससे दुःख दूर करने के लिये सर्वप्रथम भूल को दूर करना चाहिए, इस मूलभूत भूल को दूर करने के लिये वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना चाहिए।

यदि जीव को वस्तु के सच्चे स्वरूप सम्बन्धी मिथ्यामान्यता न हो तो ज्ञान में भूल नहीं हो सकती। जहाँ मान्यता सच्ची हो वहाँ ज्ञान भी सच्चा होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक ही यथार्थ वर्तन द्वारा ही जीव दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

जगत के जीवों की स्वयं को न पहचानने की महान भूल अनादि से चली आ रही है। अनेक जीव शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं अथवा शरीर तो अपने अधिकार की वस्तु है – ऐसा मानते हैं, इससे शरीर की संभाल रखने के लिये वे अनेक प्रकार से सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। शरीर को अपना मानते हैं, इससे जिन जड़ या चेतन पदार्थों की शारीरिक अनुकूलता मिलती है – ऐसा माने तो उनके प्रति राग होगा ही और जिस जड़ या चेतन की ओर से प्रतिकूलता मिलती है – ऐसा माने तो उसके प्रति द्वेष होगा ही। जीव की यह मान्यता महान भूलयुक्त है इससे उसे आकुलता बनी रहती है।

जीव की इस महान भूल को शास्त्रों में मिथ्यादर्शन कहा जाता है। जहाँ मिथ्यादर्शन हो वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या होते हैं, इससे मिथ्यादर्शनरूप महान भूल को महापाप भी कहा जाता है। मिथ्यादर्शनरूप महान भूल है, और सर्व दुःखों का मूल वही है – ऐसा लक्ष जीवों को न होने से, वह लक्ष कराने और उस भूल को दूर करके अविनाशी सुख की ओर अग्रसर हों इस हेतु से आचार्य भगवन्तों ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपदेश बारम्बार दिया है। जीव को सच्चे सुख की आवश्यकता हो तो उसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

संसाररूपी समुद्र से रत्नत्रयरूपी जहाज को पार करने के लिये

सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है वह अनन्त सुख को प्राप्त होता है और जिस जीव को सम्यग्दर्शन नहीं है, वह पुण्य करे तो भी अनन्त दुःखों को प्राप्त होता है। इसलिये यथार्थ सुख प्राप्त करने के लिये जीवों को तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए।

प्रश्न :– आत्मा और बंध का भेदज्ञान कैसे किया जाता है ?

उत्तर :– जीव एवं बंध – दोनों नियत निज-निज लक्षण से छेदे जाते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदे जाने पर दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जीव और बंधभाव को भिन्न करना आत्मा का कार्य है और उसे करनेवाला आत्मा है। मोक्ष आत्मा की पवित्रदशा है और उस दशा रूप होनेवाला आत्मा है। परन्तु उस रूप होने का साधन प्रज्ञाछैनी ही है। भगवती प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा के स्वभाव को और बंधभाव को पृथक् जानकर बंध का छेद होता है। बंध के छेदे जाने पर मोक्ष होता है। आत्मा का स्वभाव बंधन से रहित है। इसप्रकार जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही बंध और आत्मा को पृथक् करने का साधन है। यहाँ (भगवती) विशेषण के द्वारा आचार्य देव ने उस सम्यक्ज्ञान की महिमा बताई है।

आत्मा और बन्ध के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, उन लक्षणों के द्वारा भिन्न-भिन्न जानना चाहिए। आत्मा और बन्ध में चेतक-चैत्य भाव के कारण उनमें अत्यन्त निकटता होने पर भी दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अत्यन्त निकट कहने से भी भिन्नता सिद्ध हो जाती है।

आत्मा और बंध के बीच भेदज्ञान के अभाव के कारण एवं चेतक-चैत्यपने के अत्यन्त निकटता होने से उनमें एकत्व का व्यवहार किया जाता है, परन्तु भेदज्ञान के द्वारा उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट जानी जाती है, पर्याय दृष्टि से देखने पर बन्ध और ज्ञान एक ही साथ हों – ऐसा दिखाई देता है, लेकिन द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर बन्ध और ज्ञान भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और बन्ध बाहर जानेवाली विकारी भावना है। यदि बन्ध और ज्ञान को भिन्न जाने तो ज्ञान की एकाग्रता

के द्वारा बन्धन का छेद कर सकता है।

राग अनेक प्रकार का है और स्वभाव एकप्रकार का है। प्रज्ञा के द्वारा समस्त प्रकार के राग से आत्मा को भिन्न करना सो मोक्ष का उपाय है।

यहाँ यह कहा गया है कि राग और आत्मा भिन्न हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मा यहाँ है और राग उससे दस फुट दूर है ; – इसप्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्नता नहीं है, परन्तु वास्तव में भाव से भिननता है। रागादिक बन्धभाव आत्मा के ऊपर ही ऊपर रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते। क्षणिक रागभाव के होने पर भी त्रिकाली स्वभाव रागरूप नहीं है। इसलिए यह कहा है कि विकार स्वभाव के ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार और स्वभाव को भिन्न जानने से ही मोक्ष होता है और उसके लिए प्रज्ञा ही साधन है। प्रज्ञा का अर्थ है सम्यक्ज्ञान।

समयसार-स्तुति में भी कहा है कि प्रज्ञारूपी छैनी उदय की संधि की छेदक होती है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा का स्वभाव और उदय का अर्थ है बंधभाव। स्वभाव और बंधभाव की समस्त संधियों को छेदने के लिये आत्मा की प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है। ज्ञान और राग दोनों एक पर्याय में विद्यमान होने पर भी दोनों के लक्षण कभी एक नहीं हुए। दोनों अपने निज लक्षणों में भिन्न-भिन्न हैं – इसप्रकार लक्षण भेद के द्वारा उन्हें भिन्न जानकर उनकी सूक्ष्म अन्तरसंधि में प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार से वह निःसंदेह पृथक् हो जाते हैं।

जिसप्रकार पत्थर की सांध को लक्ष्य में लेकर उस सांध में सुरंग लगाने से शीघ्र ही बड़े भारी धमाके के साथ टुकड़े हो जाते हैं, उसीप्रकार यहाँ पर सम्यक्ज्ञानरूपी सुरंग को आत्मा और बन्ध के बीच की सूक्ष्म सांध में सावधानी के साथ लगाना है, ऐसा करने से आत्मा और बन्ध पृथक् हो जाते हैं।

यहाँ सावधानी के साथ सुरंग लगाने की बात कही है। अर्थात् चाहे जैसा राग हो वह सब मेरे ज्ञान से भिन्न है, ज्ञानस्वभाव के द्वारा मैं राग

का ज्ञाता ही हूँ, कर्त्ता नहीं; इसप्रकार सब तरफ से राग का भिन्नत्व जानकर, उससे अपनापन छोड़कर आत्मा में एकाग्रता करना चाहिए।

प्रज्ञा और आत्मा कहीं भिन्न नहीं हैं। तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान उपयोग को आत्मा के स्वभाव में एकाग्र करने पर राग का लक्ष्य स्वयं छूट जाता है, यही प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार है।

सूक्ष्म अन्तरसंधि में प्रहार का अर्थ यह है कि शरीर इत्यादि परद्रव्य तो भिन्न ही हैं, परन्तु पर्याय में जो राग-द्वेष होता है वह स्थूलरूप से आत्मा के साथ एक जैसा दिखाई देता है। उस स्थूलदृष्टि को छोड़कर सूक्ष्मरूप से देखने पर आत्मा के स्वभाव और राग में जो सूक्ष्म भेद है, वह ज्ञात होता है। स्वभावदृष्टि से ही राग और आत्मा भिन्न मालूम होते हैं, इसलिए सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के द्वारा ज्ञान और राग का भिन्नत्व जानकर ज्ञान में एकाग्र होने पर राग दूर हो जाता है। अर्थात् मुक्ति हो जाती है। इसप्रकार सम्यक्ज्ञानरूपी प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का प्रथम सोपान है। □

यदि यह अवसर चला गया...

तू परद्रव्य की पंचायत में पड़ गया ! लेकिन एक वीतरागी निश्चय रत्नत्रय ही इष्ट है, बाकी अनिष्ट है। इसलिए अपनी वृत्ति बदल दे। परोन्मुखता को छोड़कर स्वोन्मुख वृत्ति कर। जब तक पर का, निमित्त का या विकल्प का प्रेम है, तबतक आत्मा का द्वेष है। अरे जीव ! भाग्य के बिना यह बात सुनने को भी कहाँ से मिलेगी ? भगवान तुझसे कहते हैं कि प्रभु ! तू अपनी ओर देख न ! वहाँ सुख भरा पड़ा है। लक्ष्मी तिलक करने आयी हो, तब मुँह धोने को नहीं जाते भाई ! यह बात सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ हो तब संसार के यह कार्य कर लूँ, वह कार्य अभी बाकी है – ऐसा नहीं सोचते। यदि यह अवसर चला गया तो फिर लौटकर नहीं आयेगा, इसलिए पहले यह कर ले।

– **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–92**

भेदज्ञान ही मोक्ष का साधन है

यहाँ त्रैकालिक ज्ञातास्वभाव और वर्तमान विकारभावों के बीच सूक्ष्म अन्तरसंधि जानकर दोनों में भेदज्ञान करने के लिए ही कहा है। जिसने आत्मा और बन्ध के बीच के भेद को नहीं जाना वह अज्ञान के कारण बन्धभावों को मोक्ष का कारण मानता है और बन्धभावों का आदर करके संसार को बढ़ाता रहता है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीव ! एक प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है इस भगवती प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव मोक्ष के साधन नहीं हैं।

ध्यान करते समय पहले जो चैतन्य की ओर का विकल्प उठता है, वह विकल्प भी निर्विकल्प ध्यान का साधन नहीं है। विकल्प तो बन्धभाव है और निर्विकल्पता शुद्धभाव है। पहले अनिहतवृत्ति से (बिना भावना या बिना इच्छा के) विकल्प आते हैं; किन्तु प्रज्ञारूपी पैनी छैनी उस विकल्प को भी मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करती; किन्तु उसे बन्धमार्ग के रूप में जानकर छोड़ देती है। इसप्रकार विकल्प को छोड़कर ज्ञान रह जाता है। ऐसे विकल्पों को भी जान लेने वाला भेदज्ञान ही मोक्ष का साधन है। कोई भी प्रकार का विकल्प मोक्ष का साधन नहीं है। जो शुभ विकल्पों को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके भगवती प्रज्ञा प्रगट नहीं हुई है। इसलिए वे बन्धभाव और मोक्षभाव को भिन्न-भिन्न नहीं पहचानते और अज्ञान के कारण बन्धभावों को ही आत्मा के रूप में अंगीकार करके निरंतर बद्ध होते रहते हैं। उधर ज्ञानी को आत्मा और बन्धभाव का स्पष्ट भेदज्ञान होता है, इसलिए मोक्षमार्ग के बीच में आनेवाले बन्धभावों को बंध के रूप में निःशंकतया जानकर उसे छोड़ते जाते हैं और ज्ञान में एकाग्र हो जाते हैं, इसलिए ज्ञानी प्रतिक्षण बन्धभावों से मुक्त होते हैं। कहा भी है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

ज़ितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो

बंधे हैं, वे सब उसी – भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक जीव के भेदविज्ञान नहीं होता तब तक वह कर्मों से बंधता ही रहता है – संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। जिस जीव को भेदविज्ञान होता है वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है – मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है। इसलिए कर्मबन्ध का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का प्रथम कारण भेदविज्ञान ही है। बिना भेदविज्ञान के कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा के समस्त गुणों में और समस्त क्रमवर्ती पर्यायों में चेतना व्याप्त होकर रहती है; इसलिए चेतना ही आत्मा है। क्रमवर्ती पर्यायों के कहने से उसमें रागादि विकार नहीं लेना चाहिए; क्योंकि राग समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। बिना राग की पर्याय तो हो सकती है; परन्तु बिना चेतना के कोई पर्याय नहीं हो सकती। चेतना प्रत्येक पर्याय में अवश्य होती है। इसलिये जो राग है सो आत्मा नहीं है किन्तु चेतना ही आत्मा है, बन्धभावों की ओर न जाकर अंतर स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो चैतन्य के साथ एकमेक हो जाती है वे निर्मल पर्यायें ही आत्मा हैं। इसप्रकार निर्मल पर्यायों के साथ अभेद करके उसी को आत्मा कहा है और विकारीभावों को बन्धभाव कहकर उसे आत्मा से अलग कर दिया है यह भेदविज्ञान है।

बन्ध रहित अपने शुद्ध स्वरूप को जाने बिना बन्धभाव को भी यथार्थतया नहीं जाना जा सकता। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं, वे आत्मा नहीं हैं; चैतन्य स्वभाव ही आत्मा है। जितने दया-दान-भक्ति इत्यादि के शुभभाव हैं, उनका आत्मा के साथ कोई मेल नहीं खाता किन्तु बन्ध के साथ उनका मेल है।

प्रश्न :– जब शुभभाव आत्मा नहीं है, तब फिर परजीव की दया का राग क्यों करना चाहिए ?

उत्तर :– अरे भाई ! वस्तुतः कोई आत्मा पर जीवों की हत्या या रक्षा कर ही नहीं सकता; क्योंकि अन्य जीव को मारने अथवा बचाने की

क्रिया आत्मा की है ही नहीं। आत्मा तो मात्र उसके प्रति दया के शुभभाव या मारने के अशुभभाव ही कर सकता है; ऐसी स्थिति में यदि दयाभाव को अपना स्वरूप माने तो उसे मिथ्यात्व का महापाप लगेगा। शुभ अथवा अशुभ कोई भी भाव आत्मकल्याण में किंचित्मात्र सहायक नहीं हैं; क्योंकि वे भाव आत्मा के स्वभाव से विपरीत लक्षणवाले हैं। पुण्य-पापभाव आस्रवतत्त्व हैं, अनात्मा हैं, जहाँ तक चारित्र में कमजोरी है वहाँ तक ज्ञानी को भी वे भाव आते हैं, परन्तु वे भाव धर्म नहीं हैं।

साधक दशा में राग होता है, तथापि ज्ञान उससे भिन्न है। राग के समय राग को राग के रूप में जाननेवाला ज्ञान राग से भिन्न रहता है। यदि ज्ञान और राग एकमेक हो जायें तो राग को राग के रूप में नहीं जाना जा सकता। राग को जाननेवाला ज्ञान आत्मा के साथ एकता करता है और राग के साथ भिन्नता करता है। भेदज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह राग को भी जानता है। ज्ञान में जो राग ज्ञात होता है वह तो ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति का विकास है, परन्तु अज्ञानी को अपने स्वतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती इसलिए वह राग को और ज्ञान को पृथक् नहीं कर सकता और इसीलिए वह राग को अपना ही स्वरूप मानता है, यही स्वतत्त्व का विरोध है। भेदज्ञान के होते ही ज्ञान और राग भिन्न मालूम होते हैं, इसलिए भेद-विज्ञानी जीव ज्ञान को अपने रूप में अंगीकार करता है और राग को बन्धरूप जानकर छोड़ देता है। यह भेदज्ञान की ही महिमा है।

राग के समय मैं रागरूप ही हो गया हूँ – ऐसा मानना सो एकान्त है; परन्तु राग के समय भी मैं तो ज्ञानरूप ही हूँ, मैं कभी रागरूप होता ही नहीं – इसप्रकार भिन्नत्व की प्रतीति करना सो अनेकान्त है। राग को जानते हुए ज्ञान यह जानता है कि 'यह राग है' परन्तु ज्ञान यों नहीं जानता कि 'यह राग मैं हूँ' क्योंकि ज्ञान अपना कार्य राग से भिन्न रहकर करता है। दृष्टि का बल ज्ञान-स्वभाव की ओर जाना चाहिए, उसकी जगह राग की ओर जाता है, यही अज्ञान है। जिसका प्रभाव ज्ञान की

ओर जाता है वह राग को निःशंक रूप से जानता है, किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव में कोई शंका नहीं होती और जिसका प्रभाव ज्ञान की ओर नहीं है उसे राग को जानने पर भ्रम हो जाता है कि यह राग क्यों ? लेकिन भाई ! तेरी दृष्टि ज्ञान से हटकर राग पर क्यों जाती है ? जो यह राग मालूम होता है सो तो ज्ञान की जानने की जो शक्ति विकसित हुई है वही मालूम होती है; इसप्रकार ज्ञान और राग को पृथक् करके अपने ज्ञान पर भार दे; यही मुक्ति का उपाय है। ज्ञान पर भार देने से ज्ञान सम्पूर्ण विकसित हो जाएगा और राग सर्वथा नष्ट हो जाएगा – जिससे मुक्ति मिलेगी। भेदज्ञान का ही यह फल है।

राग के समय जिसने यह जाना कि 'जो यह राग मालूम होता है, वह मेरी ज्ञानशक्ति है, राग की शक्ति नहीं है और इसप्रकार जिसने भिन्न रूप में प्रतीति करली है उसके मात्र ज्ञातृत्व रह जाता है और ज्ञातृत्व के बल से समस्त विकार का कर्तृत्वभाव उड़ जाता है।

यदि कोई ऐसा माने कि महाव्रत के शुभ विकल्प से चारित्र दशा प्रगट होती है तो वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि व्रत का विकल्प तो राग है, इसलिए बन्ध का लक्षण है और चारित्र आत्मा है। जो शुभराग को चारित्र का साधन मानता है वह बन्ध को और आत्मा को एक मानता है तथा उन्हें पृथक् नहीं समझता; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, वह राग रहित आत्मा की ज्ञानशक्ति को नहीं पहिचानता। जब व्रत का शुभ विकल्प उठा तब उस समय आत्मा के ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी विकसित हुई कि वह ज्ञान आत्मा के स्वभाव को भी जानता है और विकल्प को भी जानता है। उस पर्याय में विकल्प का ही ज्ञान होता है। दूसरा कदापि नहीं होता; परन्तु वहाँ जो विकल्प है वह चारित्र का साधन नहीं; किन्तु जो ज्ञानशक्ति विकसित हुई है वह ज्ञान ही स्वयं चारित्र का साधन है। तेरी ज्ञायक पर्याय ही तेरी शुद्धता का साधन है और जो व्रत का राग है, वह तेरी ज्ञायक पर्याय का उस समय का ज्ञेय है। यह बात नहीं है कि महाव्रत का विकल्प उठा है, इसलिए चारित्र प्रगट हुआ है; परन्तु

ज्ञान उस वृत्ति को और स्वभाव को दोनों को भिन्न जानकर स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है, इसीलिए चारित्र प्रगट हुआ है। वृत्ति तो बन्धभाव है और मैं ज्ञायक हूँ, इसप्रकार ज्ञायकभाव की दृढ़ता के बल से वृत्ति को तोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन होता है और क्षपकश्रेणी को मांडकर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है।'

ज्ञान में जो विकार मालूम होता है वह तो ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी विकसित हुई है – यों कहकर ज्ञान और विकार के बीच भेद किया है; उसकी जगह कोई यह मान बैठे कि – "भले विकार हुआ करे, आखिर वह है तो ज्ञान का ज्ञेय ही न ?" तो समझना चाहिए कि वह ज्ञान के स्वरूप को ही नहीं मानता। भाई ! जिसके पुरुषार्थ का प्रवाह ज्ञान की ओर बह रहा है, उसके पुरुषार्थ का प्रवाह विकार की ओर से रुक जाता है और उसके प्रतिक्षण विकार का नाश होता है। साधक दशा में जो-जो विकारभाव उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञान में होकर छूट जाते हैं, उनका अस्तित्व नहीं रहता। इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय प्रत्येक पर्याय में ज्ञान का झुकाव स्वभाव की ओर होता जाता है और विकार से छूटता जाता है। "विकार भले हो" यह भावना मिथ्यादृष्टि की ही है। ज्ञानी तो जानता है कि कोई विकार मेरा नहीं है, इसलिए वह ज्ञान की भावना करता है इसीलिए विकार की ओर से उसका पुरुषार्थ हट जाता है। ज्ञान के अस्तित्व में विकार का नास्तित्व है।

पहले रागादिक पहचाने नहीं जाते थे और अब ज्ञान सूक्ष्म रागादि को भी जान लेता है; क्योंकि ज्ञान की शक्ति विकसित हो गई है, ज्ञान सूक्ष्म विकल्प को भी बन्धभाव के रूप में जान लेता है; इसमें राग की शक्ति नहीं; किन्तु ज्ञान की ही शक्ति है। ऐसे स्वाश्रय से ज्ञान की प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और स्थिरता के अतिरिक्त अन्य सब उपाय आत्महित के लिए व्यर्थ हैं। अपने परिपूर्ण स्वाधीन स्वतत्व की शक्ति को प्रतीति के बिना जीव अपनी स्वाधीन दशा कहाँ से लाएगा ? निज की प्रतीति

वाला निज की ओर झुकेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा; जिसे निज की प्रतीति नहीं है, वह विकार की ओर झुकेगा और संसार में परिभ्रमण करेगा।

ज्ञान चेतनस्वरूप है अर्थात् वह सदा जागृत रहता है। जो रागात्मक वृत्ति आती है ज्ञान उसे तत्काल छिन्न-भिन्न कर देता है और प्रत्येक पर्याय में ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है। जो एक भी रागात्मक वृत्ति को कदापि मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करता ऐसा भेदज्ञान उन वृत्तियों को तोड़ता हुआ, स्वरूप की एकाग्रता को बढ़ाता हुआ मोक्षमार्ग को पूर्ण करके मोक्षरूप परिणमित हो जाता है। ऐसे परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की शक्ति का बल जिसे प्रतीति में जम गया उसे अल्पकाल में मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है। राग को जानकर राग से भिन्न रहनेवाला ज्ञान मोक्ष प्राप्त करता है और राग को जानकर भी राग में अटक जानेवाला ज्ञान बन्ध को प्राप्त करता है।

ज्ञानी के प्रज्ञारूपी छैनी का बल यह होता है कि यह भावनाएँ तो प्रतिक्षण चली जा रही हैं। अज्ञानी के मन में ऐसे विचार उठते हैं कि अरे! मेरे ज्ञान में यह भावना उत्पन्न हुई है और भावना के साथ मेरा ज्ञान भी चला जा रहा है। अज्ञानी के ज्ञान और राग के बीच अभेदबुद्धि (एकत्व बुद्धि) है, जो कि मिथ्याज्ञान है। ज्ञानी ने प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा राग और ज्ञान को पृथक् करके पहिचाना है, जो कि सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है और ज्ञान ही मोक्ष है। जो सम्यग्ज्ञान साधकदशा के रूप में था, वही सम्यग्ज्ञान बढ़कर साध्यदशारूप हो जाता है। इसप्रकार ज्ञान ही साधक-साध्य है। आत्मा का अपने मोक्ष के लिए अपने गुण के साथ सम्बन्ध होता है या परद्रव्यों के साथ ? आत्मा का अपने ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है, परद्रव्य के साथ आत्मा के मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा पर से तो पृथक् है ही; किन्तु यहाँ अंतरंग में यह भेदज्ञान कराते हैं कि वह विकार से भी पृथक् है। विकार और आत्मा में भेद कर देना ही विकार के नाश का उपाय है। राग की क्रिया मेरे स्वभाव में नहीं

है। इसप्रकार सम्यक्त्व के द्वारा जहाँ स्वभाव शक्ति को स्वीकार किया कि विकार का ज्ञाता हो गया। जैसे बिजली के गिरने से पर्वत फट जाता है उसीप्रकार प्रज्ञारूपी छैनी के गिरने से स्वभाव और विकार के बीच दरार पड़ जाती है तथा ज्ञान स्वोन्मुख हो जाता है और जो अनादिकालीन विपरीत परिणमन था वह रुककर स्वभाव की ओर परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ है।

अज्ञानी को राग-द्वेष के समय ज्ञान अलग दिखाई नहीं देता, इसलिये वह आत्मा और बन्ध के बीच भेद नहीं समझता। आत्मा और बन्ध के बीच भेद को जाने बिना द्रव्यलिंगी साधु होकर नववें ग्रैवयक तक जाने योग्य चारित्र का पालन किया और इतनी मंदकषाय कर ली कि यदि कोई उसे जला डाले तो भी क्रोध न करे, छह-छह महिने तक आहार न करे तथापि भेदज्ञान के बिना अनंत संसार में ही परिभ्रमण करता है। उसने आत्मा का कोई भला नहीं किया। वह तो मात्र बन्ध भाव के प्रकार को बदलता रहता है। □

एक द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न होने के कारण बाहर ही लौटता है। शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता, बिच्छू का डंक शरीर को छूता नहीं है और बिच्छू काटे तब रोता-चिल्लाता है। शरीर आत्मा के बाहर ही लौटता है वह आत्मा का क्या कर सकेगा। पैर जमीन को नहीं छूता और धूप हो वहाँ पैर गर्म हो जाते हैं। पानी को अग्नि स्पर्श नहीं करती और अग्नि हो वहाँ पानी गर्म हो जाता है। कर्म जीव को छूते नहीं हैं और कर्म हों वहाँ जीव को विकार होता है। वह द्रव्य का अपना चमत्कारिक स्वभाव है, परन्तु उपादान को नहीं देखता और निमित्त पर दृष्टि पड़ी है, इसलिए निमित्त से उपादान में कार्य होने का भ्रम हो गया है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता, बाहर ही लौटता है, वह अन्य द्रव्य को क्या करेगा ? यह सिद्धान्त अंतर में बैठ जाये तो भ्रम टूट जाये और दृष्टि स्वोन्मुख हो जाये।

– दव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–148

मात्र बाह्य व्रतादि क्रियायें धर्म के साधन नहीं

जिसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब बाह्य धर्मसाधन किया', उसके पर में कर्त्तृत्व बुद्धि के कारण मिथ्यात्व की ही प्रबलता है। जो बाहर से शरीर की क्रिया इत्यादि को ऊपरी दृष्टि से देखता है उसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब तो किया है;' और क्या करे ? किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि उसने कुछ भी अपूर्व नहीं किया, मात्र बन्धभाव ही किया है, शरीर की क्रिया का और शुभराग के कर्त्तृत्व का अहंकार किया है। व्यवहार दृष्टि से कहा जाय तो मंदकषाय का परिणाम होने से उसने पुण्यभाव ही किया है और परमार्थ से देखा जाए तो मिथ्यात्व को ही पुष्ट किया है। राग अथवा विकल्प से आत्मा को लाभ मानना सो महामिथ्यात्व है; वह एक प्रकार के बन्धभाव को छोड़कर दूसरे प्रकार का बन्धभाव करता है; परन्तु जब तक बन्धभाव की दृष्टि को छोड़कर अबन्ध आत्मस्वभाव को नहीं पहिचान लेता तब तक उसने आत्मदृष्टि से कुछ नहीं किया। वास्तव में तो बन्धभाव का प्रकार ही नहीं बदला; क्योंकि उसने समस्त बन्धभावों का मूल जो मिथ्यात्व है, उसे दूर नहीं किया है।

अज्ञानी स्वयं खाने-पीने का, वस्त्र का और रुपये-पैसे आदि का राग नहीं छोड़ सकता, इसलिये वह किसी अन्य अज्ञानी को बाह्य में अन्न-वस्त्र और रुपये-पैसे का त्याग करता देखता है तो वह यह मान बैठता है कि 'उसने बहुत कुछ किया है और वह मेरी अपेक्षा उच्च है;' किन्तु वह जीव भी बाहर से त्यागी होने पर भी अन्तरंग में अज्ञानजन्य मिथ्यात्वरूप महापाप का सेवन कर रहा है। जो अन्तरंग की पहिचान किये बिना बाहर से ही अनुमान करता है वह सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

ऊपर जो अज्ञानी त्यागी का दृष्टान्त दिया है, अव्रती ज्ञानी के सम्बन्ध में इससे उलटा समझना चाहिये। ज्ञानी गृहस्थ दशा में हो और उसके चारित्र मोह सम्बन्धी राग भी हो तथापि उसके अन्तरंग में सर्व परद्रव्यों के प्रति उदासीन भाव रहता है; और वह इस राग का भी स्वामित्व नहीं मानता, वह धर्मात्मा है। जो ऐसे धर्मात्मा को आंतरिक चिन्हों के

द्वारा नहीं पहिचानता और बाहर से माप करता है वह वास्तव में आत्मा को नहीं समझता। जो अन्तरंग में आत्मा की पवित्र दशा को नहीं समझते वे मात्र जड़ के संयोग से ही माप निकालते हैं। धर्मी और अधर्मी का माप संयोग से नहीं होता। राग की मंदता से भी धर्मी का माप नहीं होता। धर्मी और अधर्मी का माप तो अन्तरंग-अभिप्राय से निकाला जाता है।

बाह्य त्यागी और मंद रागी होने पर भी जो बन्धभाव को अपना स्वरूप मानता है वह अधर्मी है और बाह्य में राजपाट का संयोग हो तथा राग विशेष दूर न हुआ हो तथापि जिसे अन्तरंग में बन्धभाव से भिन्न अपने स्वरूप की प्रतीति हो वह धर्मी है। जो शरीर की क्रिया से, बाहर के त्याग से अथवा राग की मंदता से आत्मा की महत्ता मानता है वह शरीर से भिन्न, संयोग से और विकार से रहित आत्मस्वभाव का घात करता है; वह महापापी है; क्योंकि स्वभाव की हिंसा का पाप सबसे बड़ा पाप है।

बाहर का बहुतसा त्याग और बहुतसा शुभराग करके अज्ञानी लोग यह मान बैठते हैं कि ऐसा करते-करते हमें मुक्ति मिल जायेगी; किन्तु हे भाई! तुमने आत्मा के धर्म का मार्ग ही अभी नहीं जान पाया, तब फिर मुक्ति तो कहाँ से मिलेगी? अन्तरंग स्वभाव का ज्ञान हुए बिना आंतरिक शांति नहीं मिल सकती और विकारभाव की आकुलता दूर नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान ही मुक्ति का सरल मार्ग

आत्मा के स्वभाव को समझने का मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्ग को जानकर उसपर धीरे-धीरे चलने लगे तो भी संसार पंथ कटने लगे; परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आँखों पर पट्टी बाँधकर कोल्हू के बैल की तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घूम-घामकर वहीं का वहीं बना रहेगा।

ज्ञान के बिना चाहे जितना राग मंद करे अथवा बाह्य त्याग करे; किन्तु यथार्थ समझ के बिना उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा और वह मुक्ति

मार्ग की ओर कदापि नहीं जा सकेगा। वह तो विकार में और जड़ की क्रिया में कर्तृत्व का अहंकार करके संसार मार्ग में और दुर्गति में ही फँसता चला जायगा। यथार्थ ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार आत्मा की मुक्तदशा का मार्ग दिखाई नहीं दे सकता। जिसने आत्म-प्रतीति की है वे त्याग अथवा व्रत किए बिना ही एकभवातारी हो गए हैं।

कोई यह पूछ सकता है कि आत्मा के स्वभाव का मार्ग सरल होने पर भी समझ में क्यों नहीं आता ? इसका कारण यह है कि अज्ञानी को अनादिकाल से आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह है, जिसे अन्तरंग राग रहित स्वभाव की दृष्टि का बल प्राप्त है वह आत्मानुभव की यथार्थ प्रतीति के कारण एक भव में ही मोक्ष को प्राप्त कर लेगा और जिसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है ऐसा अज्ञानी छह-छह महीने का तप करके मर जाय तो भी आत्मप्रतीति के बिना उसका एक भी भव कम नहीं होगा; क्योंकि उसे आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह है; और वह व्यामोह ही संसार का मूल है।

प्रश्न :– अज्ञानी का व्यामोह किसीप्रकार हटाया भी जा सकता है या नहीं ?

उत्तर :– हाँ, प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा उसे अवश्य छेदा जा सकता है। जैसे अन्धकार को दूर करने का उपाय प्रकाश है, उसीप्रकार अज्ञान को दूर करने का उपाय सम्यक्ज्ञान है। यहाँ व्यामोह का अर्थ अज्ञान है और प्रज्ञारूपी छैनी का अर्थ सम्यक्ज्ञान है। हजारों उपवास करना अथवा लाखों रुपयों का दान करना आत्मा सम्बन्धी अज्ञान को दूर करने का उपाय नहीं है; किन्तु आत्मा और राग की भिन्नता का सम्यक्ज्ञान ही व्यामोह को छेदने का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से व्यामोह को छेदकर आत्मा मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करता है। □

संत, शास्त्र और सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं कि सर्वप्रथम आत्मा को जानो, अनुभव करो, यह बात ही जिसे नहीं रुचती और दूसरा कुछ करना चाहिए – ऐसा मानता है, वह देव-शास्त्र-गुरु का अनादर करता है।– **दव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–150**

आत्मज्ञान का उपाय : प्रज्ञाछैनी

प्रश्न :– प्रज्ञारूपी छैनी कैसे प्राप्त हो अर्थात् सम्यक्ज्ञान कैसे प्रगट हो ? ज्ञान के लिए किसी न किसी अन्य साधन की आवश्यकता तो होती ही है ?

उत्तर :– नहीं, ज्ञान का उपाय ज्ञानाभ्यास ही है। ज्ञान का अभ्यास ही प्रज्ञारूपी छैनी को प्रगट करने का कारण है। भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास इत्यादि का शुभराग प्रज्ञा का उपाय नहीं है, स्वभाव की रुचि के साथ स्वभाव का अभ्यास करना ही स्वभाव का ज्ञान प्रगट करने का उपाय है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव इस गाथा के आशय को निम्नलिखित कलश द्वारा कहते हैं :–

(स्त्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः।
सूक्ष्मेऽन्तः संधिबंधे निपतति रभसादात्मकर्मोदयस्य।।
आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे।
बंधं चाज्ञानैभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्न भिन्नौ।।१८१।।

यह प्रज्ञारूपी पैनी-छैनी प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से – जैसे भी बने वैसे – यत्नपूर्वक – प्रमाद रहित हो सावधानी से चलाई जाने पर आत्मा और कर्म दोनों की सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्ध में (आंतरिक साँध के जोड़ में) गिराई जाती है या पटती जाती है।

आत्मा तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलरूप से दैदीप्यमान है; प्रज्ञारूपी छैनी, स्वयं को उस चैतन्य प्रवाह में मग्न करती हुई और बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल करती हुई आत्मा और बन्ध को सब ओर से भिन्न-भिन्न करती है।

इस कलश में सम्यक् पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है, भेदज्ञान का उपाय दिखाया है।

इस कलश में प्रयुक्त पुरुषार्थ के बतानेवाले निम्नांकित पाँच विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

1. **पैनी छैनी** – जैसे जड़ शरीर में से विकारी रोग को निकालने के लिये पैने और सूक्ष्म चमकते हुए शस्त्रों से ऑपरेशन किया जाता है, इसी प्रकार यहाँ चैतन्य आत्मा और रागादि विकार के बीच ऑपरेशन करके उन दोनों को पृथक् करना है; उसके लिये तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी छैनी है अर्थात् सम्यग्ज्ञान पर्याय अन्तरंग में ढलकर स्वभाव में मग्न होती है और राग पृथक् हो जाता है; यही भेदविज्ञान है।

2. **किसी भी प्रकार** – पहले तेईसवें कलश में कहा था कि तू किसी भी प्रकार अर्थात् मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो; उसीप्रकार यहाँ भी कहते हैं कि किसी भी प्रकार, समस्त विश्व की परवाह न करके भी सम्यग्ज्ञानरूपी प्रज्ञा-छैनी को आत्मा और बन्ध के बीच डाल। किसीप्रकार अर्थात् तू अपने में पुरुषार्थ करके प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा भेदज्ञान कर ! शरीर का चाहे जो हो; किन्तु आत्मा को प्राप्त करना है – यही एक कर्तव्य है, इसप्रकार तीव्र आकांक्षा और रुचि करके सम्यग्ज्ञान को प्रगट कर ! यदि आकाश में चमकनेवाली बिजली के प्रकाश में सुई में डोरा डालना हो तो उसमें कितनी सावधानी एवं एकाग्रता आवश्यक होती है! उधर बिजली चमकी नहीं कि इधर सुई में डोरा डाल दिया; इसमें एक क्षण मात्र का प्रमाद नहीं चल सकता; इसीप्रकार चैतन्य में सम्यग्ज्ञानरूपी सत् को पाने के लिये चैतन्य की एकाग्रता और तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए। अहो ! यह चैतन्य भगवान को पहिचानने का सुयोग प्राप्त हुआ है, यहाँ प्रत्येक क्षण अमूल्य है, आत्मप्रतीति के बिना उद्धार का कहीं कोई मार्ग नहीं; इसलिए अभी ही किसी भी तरह आत्मप्रतीति कर लेनी चाहिए। इसप्रकार स्वभाव की रुचि प्रगट करने पर विकार बल नष्ट हो जाता है। यह विकार अपने चैतन्य की शोभा नहीं, किन्तु कलंक है। मेरा चैतन्य तत्त्व उससे भिन्न असंग है। इसप्रकार निरन्तर स्वभाव की रुचि और पुरुषार्थ के अभ्यास के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाना चाहिये।

3. **निपुण पुरुषों के द्वारा** – यहाँ लौकिक निपुणता की बात नहीं,

किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने में निपुणता की बात है। लौकिक बुद्धि में निपुण होने पर भी उसे स्वयं शंका बनी रहती है कि "मेरा क्या होगा ?" इसीप्रकार ज़िसे ऐसी शंका बनी रहती है कि "तीव्र कर्म उदय में आयेंगे तो मेरा क्या होगा ? यदि अभी मेरे भव शेष होंगे तो मेरा क्या होगा ? मुझे प्रतिकूलता आ गई तो फिर मेरा क्या होगा ?" ऐसे शंकालु भयाक्रान्त व्यक्ति तत्त्व में निपुण नहीं है; किन्तु अशक्त पुरुषार्थहीन पुरुष है। जो ऐसी पुरुषार्थहीनता की बातें करता है, वह प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार नहीं कर सकता; इसीलिए कहा है कि 'निपुण पुरुषों के द्वारा चलाई जाने पर' अर्थात् जिसे कर्मों के उदय की चिन्ता नहीं; किन्तु मात्र स्वभाव की प्राप्ति का ही लक्ष्य है। और जिसे अपने स्वभाव की प्राप्ति के पुरुषार्थ के बल से मुक्ति की प्राप्ति निःसंदेह रूप से ज्ञात है – ऐसे निपुण पुरुष ही तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाकर भेदविज्ञान करते हैं।

4. **सावधान होकर** – अर्थात् वह प्रज्ञाछैनी प्रमाद और मोह को दूर करके चलानी चाहिए। यदि एक क्षण भी सावधान होकर चैतन्य का अभ्यास करे तो अवश्य ही भेदज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो जाय। जो चैतन्य में सावधान है उसे कर्म के उदय की शंका कदापि नहीं होती है। पहले अनादिकाल से विकार को अपना स्वरूप मानकर असावधान हो रहा था उसकी जगह अब चैतन्य स्वरूप के लक्ष्य से सावधान होकर विकार का लक्ष्य छोड़ दिया है। अब विकार हो तो भी 'वह मेरे चैतन्यस्वरूप से भिन्न है' इसप्रकार सावधान होकर आत्मा और बन्ध के बीच प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिए।

'प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिए' इसका अर्थ यह है कि आत्मा में ज्ञानोपयोग को एकाग्र करना चाहिए। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ और यह पर की ओर जानेवाली जो भावना है सो राग है; इसप्रकार आत्मा और बन्ध के पृथक्त्व की संधि जानकर ज्ञान को चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकाग्र करने पर राग का लक्ष्य छूट जाता है। यही प्रज्ञा छैनी का चलाना है।

5. **प्रज्ञाछैनी शीघ्र चलती है** – प्रज्ञाछैनी के चलने में विलम्ब नहीं लगता; किन्तु जिस क्षण चैतन्य में एकाग्र होता है उसी क्षण राग और आत्मा भिन्नरूप से अनुभव में आते हैं। "यह इस समय नहीं हो सकता।" यह पुरुषार्थहीनता की बात वस्तु के स्वभाव में नहीं है; क्योंकि यह अनुभव तो प्रतिक्षण कभी भी हो सकता है।

अध्यात्म तत्त्व की बात समझने को आनेवाले जिज्ञासु के वैराग्य और कषाय की मन्दता अवश्य होती है, अथवा यों कहें कि जिसे वैराग्य होता है और कषाय की मन्दता होती है, उसी के स्वरूप को समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। मन्द कषाय की बात तो अन्य मतवाले भी करते हैं; किन्तु सर्व कषाय से रहित अपने आत्मतत्त्व के स्वरूप को समझकर जन्म-मरण के अन्त की निःशंकता आ जाए ऐसी बात जिनधर्म में कही गयी है। अन्तकाल में तत्त्वों को समझने का सुयोग्य प्राप्त हुआ है, और शरीर के छूटने का समय आ गया है, इस समय भी यदि कषायों को छोड़कर आत्मस्वरूप को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? पुरुषार्थसिद्धि उपाय में कहा गया है कि पहले जिज्ञासु जीव को सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिए; किन्तु यहाँ तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करने की बात कही जा रही है।

हे भाई ! मानव जीवन की देहस्थिति पूर्ण होने पर यदि स्वभाव की रुचि और परिणति साथ में न ले गया तो तूने इस मानव जीवन में कोई आत्मकार्य नहीं किया। शरीर त्याग करके जानेवाले जीव के साथ क्या जानेवाला है ? यदि जीवन में तत्त्व समझने का प्रयत्न किया होगा तो ममतारहित स्वरूप की रुचि और परिणति साथ में ले जायेगा। और यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया तथा पर का ममत्व करने में ही जीवन व्यतीत कर दिया तो उसके साथ मात्र ममताभाव की आकुलता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी जानेवाला नहीं है। किसी भी जीव के साथ पर वस्तुऐं नहीं जाती; किन्तु मात्र अपना भाव ही साथ ले जाता है।

इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण

करना चाहिए। जिसे चेतना के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया है, वह सदा आत्मा में ही है। जिसने चेतना के द्वारा शुद्ध आत्मा को जान लिया है, वह कभी भी परपदार्थ को या परभावों को आत्स्वभाव के रूप में ग्रहण नहीं करता; किन्तु शुद्धात्मा को ही अपने रूप में जानकर उसका ग्रहण करता है। इसलिए वह सदा अपने आत्मा में ही है। यदि कोई पूछे कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहाँ हैं ? तो निश्चय से यही उत्तर होगा कि स्वर्गादिक बाह्य क्षेत्राों में नहीं, किन्तु वे तो अपने आत्म में ही हैं। जिसने कभी किसी परपदार्थ को अपना नहीं माना और एक चेतनास्वभव को ही निजस्वरूप से अंगीकार किया है वह चेतनास्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ रहेगा ? जिसने चेतना के द्वारा अपना स्वभाव ग्रहण किया है वह सदा अपने आत्मा में ही टिका रहता है। जिसमें जिसकी दृष्टि पड़ी है उसमें वह सदा बना रहता है। वास्तव में कोई भी जीव अपनी चैतन्य भूमिका से बाहर नहीं रहता; किन्तु अपनी चैतन्य भूमिका में जैसे भाव करता है, वैसे ही भावों में रहता है। ज्ञानी ज्ञानभाव में और अज्ञानी अज्ञानभाव में रहता है। बाहर से चाहे जो क्षेत्र हो; किन्तु जीव अपनी चैतन्य भूमिका में जो भाव करता है, उसी भाव को वह भोगता है, बाह्य संयोग को नहीं भोगता।

हे भव्य जीवो ! यदि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो स्वतः शुद्ध और सर्वप्रकार परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो, तथा उसी का लक्ष्य और आश्रय ग्रहण करो, इसके अतिरिक्त अन्य समस्त रुचि, लक्ष्य और आश्रय का त्याग करो। स्वाधीन स्वभाव में ही सुख है, परद्रव्य तुम्हें सुख या दुःख देने के लिये समर्थ नहीं है। तुम अपने स्वाधीन स्वभाव का आश्रय छोड़कर अपने ही दोषों से पराश्रय के द्वारा अनादिकाल से अपना अपार अकल्याण कर रहे हो ! इसलिए अब सर्व परद्रव्यों का लक्ष्य और आश्रय छोड़कर स्वद्रव्य का ज्ञान, श्रद्धान तथा स्थिरता करो। स्वद्रव्य के दो पहलू हैं – एक त्रिकालशुद्ध स्वतः परिपूर्ण निरपेक्षस्वभाव और दूसरा क्षणिक वर्तमान में होनेवाली विकारी

अवस्था। पर्याय स्वयं अस्थिर है, इसलिये उसके लक्ष्य से पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होगा। यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याण-रूप है और यही सर्व कल्याण का मूल है। ज्ञानीजन सम्यग्दर्शन को 'कल्याणमूर्ति' कहते हैं। इसलिये सर्वप्रथम आत्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो।

अज्ञानियों की यह मिथ्या मान्यता है कि शुभभाव धर्म का कारण है। शुभभाव तो विकार है वह अविकारी धर्म का कारण कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन स्वयं धर्म है और वह धर्म का मूल कारण है।

अज्ञानियों की यह मिथ्या मान्यता है कि शुभभाव धर्म का कारण है। शुभभाव तो विकार है वह अविकारी धर्म का कारण कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन स्वयं धर्म है और वह धर्म का मूल कारण है।

अज्ञानी का शुभभाव अशुभ की सीढ़ी है और ज्ञानी के शुभ का अभाव शुद्धता की सीढ़ी है। अशुभ से सीधा शुद्धभाव किसी भी जीव के नहीं हो सकता; किन्तु अशुभ को छोड़कर पहले शुभभाव होता है और उस शुभ को भी छोड़कर शुद्ध में जाया जाता है, इसलिये शुद्धभाव से पूर्व शुभभाव का ही अस्तित्व होता है। ऐसा मात्र ज्ञान कराने के लिये शास्त्र में शुभभाव को शुद्धभाव का कारण उपचार से कहा है; किन्तु यदि वास्तव में शुद्धभाव को शुभभाव का कारण माना जाय तो यह मिथ्या मान्यता होगी। शास्त्र के कथन के अभिप्राय को समझना चाहिए; क्योंकि शुभभाव की रुचि पाप का ही मूल कहलायेगा! जो जीव शुभभाव से धर्म मानकर शुभभाव करता है, उस जीव को उस शुभभाव के समय ही मिथ्यात्व के सबसे बड़े महापाप का बन्ध होता है अर्थात् उसे मुख्यतया तो अशुभ का ही बन्ध होता है और ज्ञानी जीव यह जानता है कि इस शुभ का अभाव करने से ही शुद्धता होती है इसलिए उनके कदापि शुभ की रुचि नहीं होती अर्थात् वे अल्पकाल में शुभ का ही अभाव करके शुद्धभावरूप हो जाते हैं। □

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन

मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य की रुचि सहित शुभभाव करके नववें ग्रैवेयक तक पहुँच जाता है तथापि वहाँ से निकलकर निगोदादि में चला जाता है; क्योंकि अज्ञान सहित शुभभाव संसार का ही मूल है; क्योंकि जो शुभराग की रुचि करता है; प्रकारान्तर से उसकी पुण्य के फल में ही रुचि है। इस कारण वह मोहरूपी राजा के जाल में फँसकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जीव मुख्यतया अशुभ में तो धर्म मानता ही नहीं; परन्तु शुभ में धर्म मानकर अज्ञानी होता है। जो स्वयं अधर्मरूप है ऐसा रागभाव धर्म में सहायक कैसे हो सकता है ?

धर्म का कारण धर्मरूप भाव होता है, न कि अधर्मरूप भाव। अधर्मरूप भाव का नाश होना ही धर्म का कारण है अर्थात् सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा अशुभ तथा शुभ भाव का नाश होना ही धर्मभाव का कारण है।

शुभभाव धर्म की सीढ़ी नहीं है; किन्तु सम्यक् समझ ही धर्म की सीढ़ी है, केवलज्ञानदशा सम्पूर्ण धर्म है और सम्यक् समझ अंशतः धर्म (श्रद्धारूपी धर्म) है। वह श्रद्धारूपी धर्म ही धर्म की पहली सीढ़ी है। इसप्रकार धर्म की सीढ़ी धर्मरूप ही है; किन्तु अधर्मरूप शुभभाव कदापि धर्म की सीढ़ी नहीं हो सकती।

श्रद्धाधर्म के बाद ही चारित्र धर्म हो सकता है, इसीलिए श्रद्धारूपी धर्म उस धर्म की सीढ़ी है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने कहा है कि 'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। इनमें से सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्गरूप है। मोक्षमार्ग पर्याय है, गुण नहीं। यदि मोक्षमार्ग गुण हो तो वह समस्त जीवों में सदा रहना चाहिये। गुण का न तो कभी नाश होता है और न कभी उत्पत्ति ही होती है; मोक्षमार्ग पर्याय है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है और मोक्षदशा के प्रगट होने पर उस मोक्षमार्ग का व्यय हो जाता है। □

सम्यग्दर्शन पर्याय है, गुण नहीं

बहुत से लोग सम्यग्दर्शन को त्रैकालिक गुण मानते है; परन्तु सम्यग्दर्शन तो आत्मा के त्रैकालिक श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय हैं, गुण नहीं है। गुण तो उसे कहते है 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी सभी अवस्थाओं में व्याप्त रहता है।' यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो वह आत्मा की समस्त अवस्थाओं में रहना चाहिए; परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन आत्मा की मिथ्यात्वदशा में नहीं रहता, इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन गुण नहीं, किन्तु पयार्य है।

जो गुण होता है वह त्रिकाल होता है और जो पर्याय होती है वह नई प्रगट होती है। गुण नया प्रगट नहीं होता; किन्तु पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन नया प्रगट होता है, इसलिए वह गुण नहीं; किन्तु पर्याय है। **पर्याय का लक्षण उत्पाद-व्यय है और गुण का लक्षण ध्रौव्य है।**

यदि सम्यग्दर्शन स्वयं गुण हो तो उस गुण की पर्याय क्या है ? 'श्रद्धा' नामक गुण है और सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) तथा मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) दोनों उसकी पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध पर्याय है।

प्रश्न :– यदि सम्यग्दर्शन को पर्याय माना जाय तो उसकी महिमा समाप्त हो जायेगी; क्योंकि पर्याय तो क्षणिक होती है और पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से उसकी महिमा में कोई कमी नहीं आ सकती। केवलज्ञान भी पर्याय है और सिद्धत्व भी पर्याय है। जो जैसी है वैसी ही पर्याय को पर्याय रूप में जानने से उसकी यथार्थ महिमा बढ़ती है, यद्यपि सम्यग्दर्शन क्षणिक पर्याय है; किन्तु उस सम्यग्दर्शन का कार्य क्या है ? सम्यग्दर्शन का कार्य अखण्ड त्रैकालिक द्रव्य को स्वीकार करना है और वह पर्याय त्रैकालिक द्रव्य के साथ एकाकार होती है, इसलिए उसकी अपार महिमा है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से उसकी महिमा समाप्त नहीं हो जाती। किसी वस्तु

के काल को लेकर उसकी महिमा नहीं है; किन्तु उसके भाव को लेकर उसकी महिमा है और फिर यह भी सच ही है कि पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है; परन्तु साथ ही यह जान लेना चाहिए कि पर्यायदृष्टि का अर्थ क्या है ? सम्यग्दर्शन पर्याय है और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना पर्यायदृष्टि नहीं है। द्रव्य को द्रव्य के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना सम्यग्ज्ञान का काम है। **यदि पर्याय को ही द्रव्य मान लें अर्थात् एक पर्याय जितना ही समस्त द्रव्य को मान लें तो उस पर्याय के लक्ष्य में ही अटक जाएगा। पर्याय के लक्ष्य से हटकर द्रव्य का लक्ष्य नहीं कर सकेगा; इसका नाम पर्यायदृष्टि है।** सम्यग्दर्शन को तो पर्याय के रूप में ही जानना। श्रद्धा गुण है और वह आत्मा के साथ त्रिकाल रहता है। **इसप्रकार द्रव्यगुण को त्रिकालरूप जानकर उसकी प्रतीति करना सो द्रव्यदृष्टि है और यही सम्यग्दर्शन है।**

जो जीव सम्यग्दर्शन को गुण मानते हैं वे सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे ? क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहनेवाला है। जिसने सम्यग्दर्शन को गुण ही मान लिया है उसे कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्यग्दर्शन नवीन प्रगट होनेवाली निर्मल पर्याय को प्रगट करनेवाले पुरुषार्थ को ही नहीं मानता।

शास्त्र में पाँच भावों का वर्णन करते हुए औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव के भेदों में सम्यग्दर्शन को गिनाया है। यह औपशमिकादिक तीनों भाव पर्यायरूप हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन भी पर्यायरूप ही है। यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो गुण को औपशमिकादि की अपेक्षा लागू नहीं हो सकती। औपशमिक 'सम्यग्दर्शन' इत्यादि भेद भी नहीं बन सकेंगे।

शास्त्रों में कहीं-कहीं अभेद नय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को आत्मा कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य और विकल्प छुड़ाकर अभेद द्रव्य का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद नहीं है, इसलिए इस नय से तो

द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं; किन्तु जब पर्यायार्थिक नय से द्रव्य-गुण-पर्याय के भिन्न-भिन्न स्वरूप का विचार करना होता है, तब जो द्रव्य है वह गुण नहीं और गुण है वह पर्याय नहीं होती; क्योंकि इन तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जैसा का तैसा जानने के बाद उसके भेद का विकल्प तोड़कर अभेद द्रव्य ही अनुभव में आता है – यह बताने के लिए शास्त्र में द्रव्य-गुण-पर्याय को अभिन्न कहा गया है; परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्य अर्थात् गुण है; किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय ही है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन को कहीं-कहीं गुण भी कहा जाता है; किन्तु वास्तव में तो वह श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय ही है; किन्तु जैसे गुण त्रिकाल निर्मल है वैसे ही उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल हो जाने से अर्थात् निर्मल पर्याय गुण के साथ अभेद हो जाने से अभेद नय की अपेक्षा से उस पर्याय को ही गुण कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार में चारित्राधिकार की ४२वीं गाथा की टीका में सम्यग्दर्शन को स्पष्टतया पर्याय कहा है तथा उसी में ज्ञानाधिकार की ७वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने बारम्बार 'सम्यक्त्व पर्याय' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन पर्याय है।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय है। 'श्रद्धा' गुण को 'सम्यक्त्व' गुण के नाम से भी पहिचाना जाता है। इसलिए पंचाध्यायी (अध्याय 2, गाथा 945) में सम्यक्त्व को त्रैकालिक गुण कहा है; वहाँ सम्यक्त्वगुण को श्रद्धागुण ही समझना चाहिए। सम्यक्त्व गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है। कहीं-कहीं सम्यग्दर्शन पर्याय को भी 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की दो प्रकार की पर्यायें हैं। एक सम्यग्दर्शन दूसरी मिथ्यादर्शन। जीवों के अनादिकाल से सम्यक्त्व गुण की पर्याय मिथ्यात्वरूप होती है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा भव्य जीव उस

मिथ्यात्वपर्याय को दूर करके सम्यक्त्व पर्याय को प्रगट कर सकते हैं। सम्यग्दर्शन पर्याय के प्रगट होने पर गुण-पर्याय की अभेद विवक्षा से यह भी कहा जाता है कि 'सम्यक्त्व गुण प्रगट हुआ है; जैसे शुद्ध त्रैकालिक गुण है वैसी ही शुद्ध पर्यायें सिद्ध दशा में प्रगट होती हैं इसलिए सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व इत्यादि आठ गुण होते हैं – ऐसा कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय की भेददृष्टि से देखने पर यह समझना चाहिए कि वास्तव में वे सम्यक्त्वादिक आठ गुण नहीं किन्तु पर्यायें हैं।'

श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या गुण और पर्याय के स्वरूप का भेद समझने के लिए है। गुण त्रैकालिक शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रतिसमय व्यक्तिरूप होती है। गुण से कार्य नहीं होता; किनतु पर्याय से होता है। पर्याय प्रति समय बदलती रहती है इसलिए प्रतिसमय नई पर्याय का उत्पाद और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। जब श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय (क्षायिक सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है तब से अनन्त काल तक वह वैसी ही रहती है। तथापि प्रति समय नई पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की एक ही समय मात्र की निर्मल पर्याय है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है – 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यहाँ 'श्रद्धान' श्रद्धा गुण की पर्याय है, इसप्रकार सम्यग्दर्शन पर्याय को अभेद नय से श्रद्धा भी कहा जाता है।

नियमसार शास्त्र की १३वीं गाथा में श्रद्धा को गुण कहा है। तथा श्री समयसारजी की १५५वीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने – सम्यग्दर्शन को 'जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं' में भी 'श्रद्धान' में श्रद्धागुण को पर्याय कहा है।

उपर्युक्त कथनों से सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की (सम्यक्तव गुण की) एक समय मात्र की पर्याय ही है और ज्ञानीजन

किसी समय अभेदनय की अपेक्षा से उसे 'सम्यक्त्व गुण' के रूप में अथवा आत्मा रूप में बतलाते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथावत् निश्चय एवं आत्मा में उनका वास्तविक प्रतिभास ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है। मुमुक्षु को मोक्षस्वरूप परम सुखस्थान में निर्विघ्न पहुँचाने में यह पहली सीढ़ीरूप है। ज्ञान, चारित्र और तप – यह तीनों सम्यक्तव सहित हों तभी सफल हैं। ज्ञान, चारित्र और तप – इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली तत्त्वों की सम्यक्श्रद्धा प्रथम आराधना है; शेष तीन आराधनाएँ भी एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधकभावरूप वर्तती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्व की अकथ्य और अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्ति रूप सम्यग्दर्शन को हे भव्यो ! तुम भक्ति-भावपूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधना करो।

प्रश्न :– चार आराधनाओं में सम्यक्त्व-आराधना को प्रथम कहने का क्या कारण है ?

उत्तर :– समन्तभद्र आचार्यदेव समाधान करते हैं :–

शम-बोध-वृत्त-तपसां, पाषाणस्यैव गौरवं पुंषः।
पूज्यं महामणेरिव, तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम्।।१५।।

आत्मा का मंद कषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यासरूप ज्ञान, पाप के त्यागरूप चारित्र और अनशनादिरूप तप को जो महत्पना है वह सम्यक्त्व के बिना मात्र पाषाण बोझ के समान है – आत्मार्थ फलदायी नहीं है; परन्तु यदि वही सामग्री सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि के समान पूजनीक हो जाती है। अर्थात् वास्तविक फलदायी और उत्कृष्ट महिमा योग्य होती है।

यद्यपि पाषाण और मणि – दोनों एक पत्थर की जाति के हैं, तथापि लोक में मूल्यवान होने से मणि का थोड़ा सा भार वहन करे तो भी भारी महत्त्व को प्राप्त होता है, उसीप्रकार मिथ्यात्व क्रिया और सम्यक्त्व क्रिया – दोनों की अपेक्षा से तो एक ही हैं, तथापि अभिप्राय के सत्-असत्पने

के कारण मिथ्यात्व पाषाणवत् एवं सम्यक्त्व मणिवत् महिमावन्त् है, क्योंकि सम्यक्त्व सहित अल्प भी क्रिया यथार्थ आत्मलाभदाता और अतिमहिमा योग्य होती है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहते हैं कि – मैं शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हुआ हूँ। जैसे पहलवान (योद्धा) कमर बाँधकर लड़ने के लिए तैयार होता है, उसीप्रकार मैं अपने पुरुषार्थ के बल से मोहमल्ल का नाश करने के लिए कमर कसकर तैयार हुआ हूँ।

मोक्षाभिलाषी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा मोह के नाश करने का उपाय विचारता है। भगवान के उपदेश में पुरुषार्थ करने का कथन है। वे स्वयं पुरुषार्थ के द्वारा मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं और जगत को भी पुरुषार्थ करने का उपदेश देते हैं।

प्रश्न :– केवली भगवान ने तो सबकुछ जान लिया है कि कौनसा जीव कब मुक्त होगा और कौन जीव मुक्त नहीं होगा; तो फिर भगवान पुरुषार्थ करने की क्यों कहते है ?

उत्तर :– भगवान के केवलज्ञान का निर्णय भी पुरुषार्थ के द्वारा ही होता है। जो जीव भगवान के कहे हुए मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करता है, उसे अन्य सर्व साधन स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। प्रवचनसार की ८०-८१-८२ – इन तीन गाथाओं में बहुत सुन्दर बात आती है। ये तीनों गाथायें हृदय का हार हैं। यह मोक्ष की माला के गुंथित मोती हैं; यह तीनों गाथायें तो तीन रत्न (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) के सदृश हैं। उनमें पहली ८०वीं गाथा में मोह के क्षय करने का उपाय बतलाते हैं :–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।।

अर्थ :– जो अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह (अपने) आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

इस गाथा में मोह की सेना को जीतने के पुरुषार्थ का विचार करते

हैं । जिसने मोह के जीतने का पुरुषार्थ किया उसे अरहंतादि निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जहाँ उपादान जागृत हुआ वहाँ निमित्त तो होता ही है। काल आदि निमित्त तो सर्व जीव के सदा उपस्थित रहते ही हैं, जीव स्वयं जिसप्रकार का पुरुषार्थ करता है, उसमें उस काल को उस कार्य का निमित्त कहा जाता है। जब कोई जीव शुभभाव करके स्वर्ग में जावे तो उस जीव के लिए वह काल स्वर्ग का निमित्त कहलाता है। यदि दूसरा जीव उसी समय पाप करके नरक में जावे तो उसके लिए उसी काल को नरक का निमित्त कहा जाता है और कोई जीव उसी समय स्वरूप समझकर स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करे तो उस जीव के लिए वही काल मोक्ष का निमित्त कहलाता है। निमित्त तो हमेशा विद्यमान है; किन्तु जब स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा अरहंत के स्वरूप का और अपने आत्मा का निर्णय करता है तब क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है और मोह का नाश होता है।

जिसने अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाना है वह जीव अल्पकाल में मुक्ति का पात्र हुआ है। अरहंत भगवान आत्मा हैं, उनमें अनन्त गुण हैं, उनकी केवलज्ञानादि पर्यायें हैं, उसके निर्णय में आत्मा के अनन्त गुण और पूर्ण पर्याय की सामर्थ्य का निर्णय आ जाता है, उसे निर्णय के बल से अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है इसमें संदेह को कहीं स्थान नहीं है। यहाँ इस गाथा में क्षायिक सम्यक्त्व की ध्वनि है।

'जो अरहन्त को द्रव्यरूप में गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है' इस कथन में जाननेवाले के ज्ञान की महत्ता समाविष्ट है। अरहंत को जाननेवाले ज्ञान में मोहक्षय का उपाय समाविष्ट कर दिया है, जिस ज्ञान ने अर्हंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने निर्णय में समावेश किया है उस ज्ञान ने परमार्थतः कर्म का और विकार का अपने में अभाव स्वीकार किया है। अर्थात् द्रव्य से, गुण से और पर्याय से परिपूर्णता का सद्भाव निर्णय में प्राप्त किया है। 'जो जानता है' इसमें जाननेवाली तो

वर्तमान पर्याय है। निर्णय करनेवाले ने अपनी ज्ञानपर्याय में पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तिरूप में निर्णय किया है और विकार का निषेध किया है; ऐसा निर्णय करनेवाले की पूर्ण पर्याय किसी पर के कारण से कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि उसने अरहंत के समान अपने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है। जिसने पूर्ण स्वभाव का निर्णय कर लिया है उसने क्षेत्र, कर्म अथवा काल के कारण मेरी पर्याय रुक जायेगी, ऐसी पुरुषार्थहीनता की बात को उड़ा दिया है। द्रव्य-गुण-पर्याय से पूर्ण स्वभाव का निर्णय करने के बाद पूर्ण पुरुषार्थ करना ही शेष रह जाता है; कहीं भी रुकने की बात नहीं रहती।

यह मोह क्षय के उपाय की बात है। जिसने अपने ज्ञान में अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है उसके ज्ञान में केवलज्ञान का हार गुंफित होगा – उसकी पर्याय केवलज्ञान की ओर की ही होगी।

"जिसने अपनी पर्याय में अर्हंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना है उसने अपने आत्मा को ही जान लिया है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है" यह बात कितनी खूबी के साथ कही है। यद्यपि वर्तमान में इस क्षेत्र में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है तथापि मोह क्षय को प्रापत होता है यह कहने में अंतरंग का इतना बल है कि जिसने इस बात का निर्णय किया उसे वर्तमान में भले ही क्षायिक सम्यक्त्व न हो तथापि उसका सम्यक्त्व इतना प्रबल और अप्रतिहत है कि उसमें क्षायिकदशा प्राप्त होने तक बीच में कोई भंग नहीं पड़ सकता। सर्वज्ञ भगवान का आश्रय लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जो जीवन द्रव्य-गुण-पर्याय के द्वारा अर्हंत के स्वरूप का निर्णय करता है वह अपने आत्मा को भी वैसा ही जानता है और वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व के ही मार्ग पर आरूढ़ है।

पंचमकाल के मुनिराज ने यह बात कही है और पंचमकाल के जीवों के लिये मोह क्षय का उपाय इसमें बताया है। सभी जीवों के लिए एक ही उपाय है। पंचमकाल के जीवों के लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है। जीव तो सभी काल में परिपूर्ण ही हैं, तब फिर उसे कौन रोक सकता है? कोई

नहीं रोकता। भरतक्षेत्र अथवा पंचमकाल कोई भी जीव को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता। कौन कहता है कि पंचमकाल में भरतक्षेत्र से मुक्ति नहीं है। आज भी यदि कोई महाविदेह क्षेत्र में से ध्यानस्थ मुनि को उठाकर यहाँ भरतक्षेत्र में रख जाये तो पंचमकाल और भरतक्षेत्र के होने पर भी वह मुनि पुरुषार्थ के द्वारा क्षपक श्रेणी को लगाकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्र के द्वारा नहीं रुकता। पंचमकाल में भरत क्षेत्र में जन्मा हुआ जीव उस भव से मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, इसका कारण काल अथवा क्षेत्र नहीं है; किन्तु वह जीव स्वयं ही अपनी योग्यता के कारण मंद पुरुषार्थी है, इसलिए बाह्य निमित्त भी वैसे ही प्राप्त होते हैं। यदि जीव स्वयं तीव्र पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करने के लिये तैयार हो जाये तो उसे बाह्य में भी क्षेत्र इत्यादि अनुकूल निमित्त प्राप्त हो ही जाते है। अर्थात् काल अथवा क्षेत्र की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रहती; किन्तु पुरुषार्थ की ओर ही देखना पड़ता है। पुरुषार्थ के अनुसार धर्म होता है। काल अथवा क्षेत्र के अनुसार धर्म नहीं होता।

जो अरहंत को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है अर्थात् जैसे द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अरहंत हैं उसी स्वरूप मैं हूँ। अरहंत के जितने द्रव्य-गुण-पर्याय है। उतने ही द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे हैं। अरिहंत को पर्यायशक्ति परिपूर्ण है तो मेरी पर्याय की शक्ति भी परिपूर्ण ही है, वर्तमान में उस शक्ति को रोकनेवाला जो विकार है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जो जानता है उसका मोह निश्चय से क्षय को प्राप्त होता है, यही मोहक्षय का उपाय है।

"जो वास्तव में अरिहंत को द्रव्यरूप में, गुणरूप में और पर्यायरूप में जानता है वह वास्तव में आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है।"

यहाँ पर वास्तव में जानने की बात कही है। मात्र धारणा के रूप में अरिहन्त को जानने की बात यहाँ नहीं ली गई है; क्योंकि वह तो

शुभराग है। वह जगत की लौकिक विद्या के समान है। उसमें आत्मा की विद्या नहीं है। वास्तव में जाना हुआ तो तब कहलायेगा जबकि अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर देखे कि जैसा अरिहन्त का स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है। यदि ऐसे निर्णय के साथ जाने तो वास्तव में जाना हुआ कहलायेगा। इसप्रकार जो वास्तव में अरिहन्त को द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

अरिहन्त भगवान को जानने में सम्यग्दर्शन आ जाता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो यह कहा है कि – **"णादं जिणेण णियदं..."** यहाँ उसका यह आशय है कि जिनेन्द्रदेव ने जो जाना है, उसमें कोई अन्तर नहीं आ सकता; इतना जानने पर अरिहन्त के केवलज्ञान का निर्णय अपने में आ गया। वह यथार्थ निर्णय सम्यग्दर्शन का कारण होता है। सर्वज्ञदेव ने जैसा जाना है वैसा ही होता है, इस निर्णय में जिनेन्द्रदेव के और अपने केवलज्ञान की शक्ति की प्रतीति अंतर्हित है। अरिहन्त के समान ही अपना परिपूर्ण स्वभाव समझ में आ गया है; अब मात्र पुरुषार्थ के द्वारा उस रूप परिणमन करना ही शेष रह गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने पूर्ण स्वभाव की भावना करता हुआ अरिहन्त के पूर्ण स्वभाव का विचार करता है कि अरिहन्तदेव ने जिस जीव को जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से जैसा अपने ज्ञान में जाना है वैसा ही होगा, उसमें किंचित्मात्र भी फर्क नहीं होगा ऐसा निर्णय करनेवाले जीव ने मात्र ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया कि वह अभिप्राय से सम्पूर्ण ज्ञाता हो गया, उसमें केवलज्ञान-सन्मुख का अनन्त पुरुषार्थ आ गया।

केवलज्ञानी अरिहंत प्रभु का जैसा स्वभाव है वैसा अपने ज्ञान में जो जीव जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि अरिहन्त के और इस आत्मा के स्वभाव में निश्चयतः कोई अन्तर नहीं है। अरिहन्त के स्वभाव को जानने वाला जीव अपने वैसे स्वभाव की

रुचि से यह यथार्थतया निश्चय करता है कि वह स्वयं भी अरिहन्त के समान ही है। अरिहंतदेव का लक्ष्य करने में जो शुभराग है उसकी यह बात नहीं है। किन्तु जिस ज्ञान ने अरिहंत का यथार्थ निर्णय किया है उस ज्ञान की बात है। निर्णय करनेवाला ज्ञान अपने स्वभाव का भी निर्णय करता है इसकारण उसका मोह क्षय को अवश्य प्राप्त होता है।

प्रवचनसार के दूसरे अध्याय की ६५वीं गाथा में कहा है कि "जो अरहंत को, सिद्ध को तथा साधु को जानता है और जिसे जीवों पर अनुकम्पा है, उनके शुभरागरूप परिणाम हैं।"

इस 65 वीं गाथा में अरहंत के जानने वाले के शुभराग कहा है। यहाँ मात्र विकल्प से जानने की अपेक्षा से बात कही है, इस गाथा में जो बात है सो शुभ विकल्प की बात है; जबकि ८०वीं गाथा में तो ज्ञान स्वभाव के निश्चय की बात है। अरहंत के स्वरूप को विकल्प के द्वारा जाने; किन्तु मात्र ज्ञानस्वभाव का निश्चय न हो तो वह प्रयोजनभूत नहीं है। जिसने निश्चय किया है उस ज्ञान की ही अनन्त शक्ति है और वह ज्ञान ही मोहक्षय करता है, उस निर्णय करने वाले ने केवलज्ञान की परिपूर्ण शक्ति को अपनी पर्याय की स्व-पर प्रकाशक शक्ति में समाविष्ट कर लिया है। मेरे ज्ञान की पर्याय इतनी शक्ति सम्पन्न है कि निमित्त की सहायता के बिना और पर के लक्ष्य बिना केवलज्ञानी अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को समा लेती है – निर्णय में ले लेती है।

वाह! पंचमकाल के मुनिराज ने केवलज्ञान के भावामृत को प्रवाहित किया है। पंचमकाल में अमृत की प्रबल धारा बहा दी है। स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है, इसलिए आचार्य भगवान भाव का मंथन करते हैं, वे केवलज्ञान की ओर के पुरुषार्थ की भावना के बल से कहते हैं कि 'मेरी पर्याय में शुद्धोपयोग के रूप में केवलज्ञान ही आंदोलित हो रहा है। बीच में जो शुभ विकल्प आता है उस विकल्प की श्रेणी को तोड़कर मैं शुद्धोपयोग की अखण्ड श्रेणी को ही अंगीकार करता हूँ। केवलज्ञान का निश्चय करने की शक्ति विकल्प में नहीं; किन्तु स्वभाव की ओर

झुकते हुए ज्ञान में है।'

अरहन्त भगवान आत्मा हैं। अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय और इस आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है तथा द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त का स्वरूप स्पष्ट है – परिपूर्ण है, इसलिए जो जीव द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है वह जीव आत्मा को ही जानता है और आत्मा को जानने पर उसका दर्शनमोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

यदि देव-गुरु के स्वरूप को यथार्थतया जाने तो जीव के मिथ्यात्व कदापि न रहे। इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि – "मिथ्यादृष्टि जीव जीव के विशेषणों को यथावत् जानकर बाह्य विशेषणों से अरहंत देव के माहात्म्य को मात्र आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा भी मानता है। यदि कोई जीव अरहन्त के यथावत् विशेषणों को जान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।"

इसीप्रकार गुरु के स्वरूप के संबंध में कहते है – "सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनि का यथार्थ लक्षण है, उसे नहीं पहचानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।"

इसीप्रकार शास्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है – "यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है तथा सच्चा रत्नत्रय – मोक्षमार्ग बताया है। इसलिए यह जैन शास्त्रों की उत्कृष्टता है, जिसे वह नहीं जानता। यदि इसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।"

तीनों में एक ही बात कही है कि यदि उसे पहचान ले तो मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें जो पहिचानने की बात की है, वह यथार्थ निर्णयपूर्वक जानने की बात है। यदि देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थतया पहचान ले तो उसे अपने आत्मा की पहचान अवश्य हो जाय और उसका दर्शनमोह निश्चय से क्षय हो जाय।

यहाँ "जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त को जानता है उसे....." ऐसा कहा है; किन्तु सिद्ध को जानने को क्यों नहीं कहा ? इसका कारण यह

है कि यहाँ शुद्धोपयोग का अधिकार चल रहा है। शुद्धोपयोग से पहले अरहन्त पद प्रगट होता है, इसलिए यहाँ अरहन्त को जानने की बात कही गई है और फिर जानने में निमित्तरूपसिद्ध नहीं होते, किन्तु अरहन्त निमित्तरूप होते हैं तथा पुरुषार्थ की जागृति से अरहन्त दशा के प्रगट हो जाने पर अघातिया कर्मों को दूर करने के लिए पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् प्रयत्न से केवलज्ञान-अरहन्त दशा प्राप्त की जाती है, इसलिए यहाँ अरहन्त की बात कही है। वास्तव में तो अरहन्त का स्वरूप जान लेने पर समस्त सिद्धों का स्वरूप भी उसमें आ ही जाता है।

अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय की भाँति ही अपने आत्मा के स्वरूप को जानकर शुद्धोपयोग की श्रेणी के द्वारा जीव अरहन्त पद को प्राप्त होता है। जो अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप को जानता है, उसका मोह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। जहाँ 'जो जाणदि' अर्थात् जो जानता है – ऐसा कहकर ज्ञान का पुरुषार्थ सिद्ध किया है। जो ज्ञान के द्वारा जानता है, उसका मोह क्षय हो जाता है; किन्तु जो ज्ञान के द्वारा नहीं जानता उसका मोह नष्ट नहीं होता।

यहाँ यह कहा है कि जो अरहन्त को द्रव्यसे-गुणसे-पर्यायसे जानता है वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय हो जाता है। □

आत्मार्थी हठ नहीं करता कि मुझे झटपट अपना कार्य करना है। स्वभाव में हठ काम नहीं आती। मार्ग सहज है; हठ से, जल्दबाजी से, अधैर्य से मार्ग हाथ नहीं आता। सहज मार्ग को प्राप्त करने के लिए धैर्य तथा विवेक चाहिए। ऋषभदेव भगवान जैसे को तेरासी लाखे पूर्व तक चारित्रदशा नहीं थी और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी सततर लाख पूर्व राज्यपद तथा छह लाख पूर्व चक्रवर्ती पद था। व जानते थे कि भीतर स्वरूप में अवगाहनरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ नही है इसलिए हठ नहीं करते थे। कितनों को ऐसा लगता कि सम्यग्दर्शन हुआ, परन्तु चारित्र धारण न करे तो किस काम का? किन्तु भाई, भीतर स्वभाव में हठ नहीं चलती, सहज पुरुषार्थ से अंतर में पहुँचा जाता है। यह बात समझने योग्य है।– **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–151**

मोह क्षय करने का उपाय

पहले कहा जा चुका है कि जो अरहन्त को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है। अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से किसप्रकार जानना चाहिए और मोह का नाश कैसे होता है यह सब यहाँ कहा जायेगा।

श्री प्रवचनसार की गाथा ८०-८१-८२ में सम्पूर्ण शास्त्र का सार भरा हुआ है। आचार्यदेव ने ८२ वीं गाथा में कहा है कि ८० एवं ८१ वीं गाथा में कथित विधि से ही समस्त अरहन्त मुक्त हुये हैं। वर्तमान भव्य जीवों के लिए भी यही उपाय है।

जिन आत्माओं को अपनी योग्यता के पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव को प्राप्त करना है और मोह का क्षय करना है उन आत्माओं को पहले तो अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानना चाहिए। भगवान अरहन्त का आत्मा कैसा था; उनके आत्मा के गुणों की शक्ति-सामर्थ्य कैसी थी और उनकी पूर्ण निर्मल पर्याय का क्या स्वरूप है ? आदि बातों के यथार्थ भाव का जो निश्चय करता है वह वास्तव में अपने ही द्रव्य-गुण-पर्याय का निश्चय करता है। वह अरहन्त को जानते हुए यह प्रतीति करता है कि 'मेरा ऐसा ही पूर्ण स्वभाव है, ऐसा ही मेरा स्वरूप है' अरहन्त के आत्मा को जानने पर अपना आत्मा किसप्रकार जाना जाता है ? इसका कारण यहाँ बतलाते हैं। 'वास्तव में जो अरहन्त को जानता है, वह निश्चय ही अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है। अरहन्त के जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वैसे ही इस आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं।

यहाँ स्वभाव की तुलना करके कहते हैं कि अरहन्त का और अपना आत्मा समान ही है, इसलिए जो अरहन्त को जानता है वह अपने आत्मा को अवश्य जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। यहाँ पर 'जो **अरहन्त को जानता है वह अपने आत्मा को जानता है**' इसप्रकार अरहन्त के आत्मा के साथ ही इस आत्मा को क्यों मिलाया है, दूसरे के

साथ क्यों नहीं मिलाया ? 'जो जगत के आत्माओं को जानता है वह निज को जानता है' ऐसा कहा – 'अरहन्त का स्वरूप अंतिम तापमान को प्राप्त स्वर्ण के स्वरूप की भाँति परिस्पष्ट (सब तरह से स्पष्ट) है; इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान हो जाता है।'

जैसे अन्तिम ताप से तपाया हुआ सोना बिल्कुल खरा होता है उसीप्रकार भगवान अरहन्त का आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्णतया शुद्ध है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमें तो आत्मा का शुद्धस्वरूप बतलाना है, विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा विकार रहित शुद्ध पूर्ण स्वरूप है, यह बताना है और इस शुद्धात्म स्वरूप के प्रतिबिम्ब के समान श्री अरहन्त का आत्मा है; क्योंकि वह सर्वप्रकार शुद्ध है। अन्य आत्मा सर्वप्रकार शुद्ध नहीं है द्रव्य, गुण की अपेक्षा से सभी शुद्ध हैं; किन्तु पर्याय से शुद्ध नहीं हैं। इसलिए उन आत्माओं को न लेकर अरहन्त के ही आत्मा को लिया है, उस शुद्ध स्वरूप को जो जानता है वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। अर्थात् यहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने की ही बात है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने के अतिरिक्त मोह क्षय का कोई दूसरा उपाय नहीं है। सिद्ध भगवान के भी पहले अरहंत दशा थी इसलिए अरहंत के स्वरूप को जानने पर उनका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। अरहंत दशा पूर्वक ही सिद्धदशा होती है।

द्रव्य, गुण तो सदा शुद्ध ही हैं, किन्तु पर्याय की शुद्धि करनी है। पर्याय की शुद्धि करने के लिए यह जान लेना चाहिये कि द्रव्य-गुण-पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है ? अरहंत भगवान का आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है और अन्य आत्मा पर्याय की अपेक्षा से पूर्ण शुद्ध नहीं हैं, इसलिए अरहंत का स्वरूप जानने को कहा है। जिसने अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप को यथार्थ जाना है उसे शुद्ध स्वभाव की प्रतीति हो गई है, उसका दर्शन मोह नष्ट हो गया है; उसकी पर्याय शुद्ध होने लगी है।

जिसप्रकार सोने में सौ टंच शुद्ध दशा होने की शक्ति है, जब अग्नि के द्वारा ताव देकर उसकी ललाई दूर की जाती है तब वह शुद्ध होता है यही सोने का मूलस्वरूप है। वह सोना अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की पूर्णता को प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार अरहन्त का आत्मा पहले अज्ञानदशा में था फिर आत्मज्ञान और स्थिरता के द्वारा क्रमशः शुद्धता को बढ़ाकर पूर्णदशा प्रगट कर ली है। अब वे अरहंत द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से पूर्ण शुद्ध हैं। और अनंत काल इसीप्रकार रहेंगे। उनके अज्ञान का, राग-द्वेष का और भव का अभाव है। इसप्रकार अरहन्त के आत्मा को, उनके गुणों को और उनकी अनादि-अनंत पर्यायों को जो जानता है, वह अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरहन्त का आत्मा परिस्पष्ट है, सब तरह से शुद्ध है। उन्हें जानकर ऐसा लगता है कि अहो! यह तो मेरे शुद्ध स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है। इसप्रकार यथार्थतया प्रतीति होनेपर शुद्धसम्यक्त्व अवश्य ही प्रगट होता है।

अरहन्त का आत्मा ही पूर्ण शुद्ध है। अरहन्त भगवान के आत्मा को जानने पर अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है। "अहो! आत्मा का स्वरूप तो ऐसा सर्वप्रकार शुद्ध है, पर्याय में जो विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। अरहन्त जैसी ही पूर्णदशा होने में जो कुछ कमी रह जाती है वह मेरा स्वरूप नहीं है, जितना अरहन्त में है उतना ही मेरे स्वभाव में है" इसप्रकार अपनी प्रतीति होने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। अब उसी स्वभाव के आधार से पुरुषार्थ के द्वारा राग-द्वेष का सर्वथा क्षय करके अरहन्त के समान ही पूर्णदशा प्रगट करके मुक्त हो जाता है। इसलिए अरहन्त के स्वरूप को जानना ही मोह क्षय का उपाय है।

यह बात विशेष समझने योग्य है, इसलिए इसे अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। यद्यपि अरहंत को लेकर बात उठाई है तथापि वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वभाव की ओर से ही बात का प्रारम्भ किया है।

अरहन्त के समान ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। पहले पूर्ण शुद्धस्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। पहले जो पूर्ण शुद्धस्वभाव को जाने, उसके धर्म होता है; किन्तु जो जानने का पुरुषार्थ ही न करे, उसके धर्म नहीं होता। अर्थात् यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं तथा सत् निमित्त के रूप में अरहन्त देव ही हैं, यह बात भी इससे ज्ञात हो गई।

चाहे सौ टंची सोना हो, चाहे पचास टंची हो, दोनों का स्वभाव समान है; किन्तु दोनों की वर्तमान अवस्था में अन्तर है। पचास टंची सोने में अशुद्धता है, उस अशुद्धता को दूर करने के लिए उसे सौ टंची सोने के साथ मिलाना चाहिए। यदि उसे ७५ टंची सोने के साथ मिलाया जाय तो उसका वास्तविक शुद्धस्वरूप ख्याल में नहीं आएगा और वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। यदि सौ टंची सोने के साथ मिलाया जाय तो सौ टंच शुद्ध करने का प्रयत्न करें।

इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है; किन्तु वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है। अरहन्त और इस आत्मा के बीच वर्तमान अवस्था में अन्तर है। वर्तमान अवस्था में जो अशुद्धता है उसे दूर करना है, इसलिए अरहंत भगवान के पूर्ण शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ मिलान करना चाहिए। ऐसी प्रतीति जिसने की उसे निमित्तों की ओर नहीं देखना होता; क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में से आती है, निमित्त में से नहीं आती तथा पुण्य-पाप की ओर अथवा अपूर्ण दशा की ओर भी नहीं देखना पड़ता; क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, बस ! अब अपने द्रव्य-गुण की ओर ही पर्याय की एकाग्रता रूप क्रिया करनी होती है। एकाग्रता करते–करते पर्याय शुद्ध हो जाती है। ऐसी एकाग्रता कौन करता है ? जिसने पहले अरहंत के स्वरूप के साथ मिलान करके अपने पूर्ण स्वरूप को ख्याल में लिया हो वह अशुद्धता को दूर करने के लिए शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता का प्रयत्न करता है; किन्तु जो जीव पूर्ण शुद्ध स्वरूप को नहीं जानता और पुण्य पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा

है वह जीव अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न नहीं कर सकता, इसलिए सबसे पहले अपने शुद्ध स्वभाव को पहिचानना चाहिए। इस गाथा में आत्मा के शुद्ध स्वभाव को पहिचानने की रीति बताई गई है।

अरहन्त का स्वरूप सर्वप्रकार स्पष्ट है, जैसी वह अरहंत की दशा है, वैसी ही इस आत्मा की दशा होनी चाहिए; इसप्रकार जिसने अरहंत का और अपना ठीक निर्णय कर लिया उसका दर्शन मोह नष्ट होकर उसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

ध्यान रहे, इसमें मात्र अरहन्त की बात नहीं है; किन्तु अपने आत्मा को उनसे तोलने की बात है। अरहन्त की प्रतीति करनेवाला अपना ज्ञानस्वभाव है। जो अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा अरहन्त की प्रतीति करता है, उसे अपने आत्मा की प्रतीति अवश्य हो जाती है। ऐसी प्रतीति करते-करते एक दिन उसे भी केवलज्ञान हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके केवलज्ञान प्राप्त करने तक का अप्रतिहत उपाय बता दिया गया है।

८२वीं गाथा में कहा गया है कि समस्त तीर्थंकर इसी विधि से कर्म का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त हुए हैं और उन्होंने यही उपदेश दिया है। जैसे अपना मुँह देखने के लिए सामने स्वच्छ दर्पण रखा जाता है; उसीप्रकार यहाँ आत्मस्वरूप को देखने के लिए अरहन्त भगवान को आदर्श (दर्पण) रूप में अपने समक्ष रखा है। तीर्थंकरों का पुरुषार्थ अप्रतिहत होता है, उनका सम्यक्त्व और श्रेणी भी अप्रतिहत होती है। यहाँ तीर्थंकर के साथ मिलान करना है; इसलिए तीर्थंकरों के समान ही अप्रतिहत सम्यग्दर्शन आदि की बात ली गई है। मूल सूत्र में **मोहो खलु जादि तस्स लयं** कहा है, उसीमें से यह भाव निकलता है।

अरहन्त और अन्य आत्माओं के स्वभाव में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। अरहन्त का स्वरूप अंतिम शुद्धदशारूप है; इसलिए अरहन्त का ज्ञान करने पर समस्त आत्माओं के शुद्धस्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है। स्वभाव से सभी आत्मा अरहन्त के समान हैं; परन्तु उनकी पर्याय में

अन्तर है। यहाँ तो सभी आत्माओं को अरहन्त के समान कहा है, अभव्य को भी अलग नहीं किया। अभव्य जीव का स्वभाव और शक्ति भी अरहन्त के समान ही है। सभी आत्माओं का स्वभाव परिपूर्ण है; किन्तु अभी जिनकी अवस्था में पूर्णता प्रगट नहीं है, यह उनके पुरुषार्थ का दोष है; किन्तु वह दोष पर्याय का है, स्वभाव का नहीं। यदि स्वभाव को पहचाने तो उसके बल से पर्याय का दोष भी दूर किया जा सकता है।

भले ही जीवों की वर्तमान में अरहन्त जैसी पूर्णदशा प्रगट न हुई हो; तथापि आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की पूर्णता का स्वरूप कैसा होता है? यह स्वयं वर्तमान में निश्चित कर सकता है। जबतक अरहन्त केवली भगवान जैसी दशा नहीं होती, तब तक आत्मा का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। अरहन्त के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान करने पर सभी आत्माओं का ज्ञान हो जाता है। सभी आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप को पहचानकर जबतक पूर्णदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, तबतक वे दुःखी रहते हैं। सभी आत्मा शक्तिस्वरूप से तो पूर्ण ही हैं; किन्तु यदि व्यक्तदशा में पूर्ण हों तो सुख प्रगट हो। जीवों को अपनी ही अपूर्णदशा के कारण दुःख है, वह दुःख दूसरे के कारण नहीं है; इसलिए अन्य कोई व्यक्ति जीव का दुःख दूर नहीं कर सकता; किन्तु यदि जीव स्वयं अपनी पूर्णता को पहचाने तभी उसका दुख दूर हो, इससे मैं किसी का दुःख दूर नहीं कर सकता और अन्य कोई मेरा दुःख दूर नहीं कर सकता – ऐसी स्वतन्त्रता की प्रतीति हुई और पर का कर्तृत्व दूर करके ज्ञातारूप में रहा; यही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

पूर्ण स्वरूप के अज्ञान के कारण ही अपनी पर्याय में दुःख है। उस दुःख को दूर करने के लिए अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का अपने ज्ञान के द्वारा निर्णय करना चाहिए। शरीर, मन, वाणी, पुस्तक, कर्म – यह सब जड़ हैं, अचेतन हैं। वे सब आत्मा से बिल्कुल भिन्न हैं। जो राग-द्वेष होता है, वह भी वास्तव में मेरा नहीं है; क्योंकि अरहन्त भगवान की दशा में राग-द्वेष नहीं है। राग के आश्रय से भगवान की पूर्णदशा नहीं हुई।

भगवान की पूर्णदशा कहाँ से आई ? उनकी पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुण के ही आधार से आई है। जैसे अरहंत की पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुण के ही आधार से प्रगट हुई है। वैसे ही मेरी पूर्णदशा भी मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से प्रकट होती है। विकल्प का या पर का आधार मेरी पर्याय को भी नहीं है। 'अरहंत जैसी पूर्णदशा मेरा स्वरूप है और अपूर्णदशा मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसा मैंने जो निर्णय किया है, वह निर्णयरूप दशा मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से हुई है। इसीप्रकार जीव का लक्ष्य अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय से हटकर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर जाता है और वह अपने स्वभाव को प्रतीति में लेता है। स्वभाव को प्रतीति में लेनेपर स्वभाव की ओर पर्याय एकाग्र हो जाती है अर्थात् मोह को पर्याय का आधार नहीं रहता। इसप्रकार निराधार हुआ मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

सर्वप्रथम अरहन्त का लक्ष्य होता तो है; किन्तु बाद में अरहन्त के लक्ष्य से भी हटकर स्वभाव की श्रद्धा करने पर सम्यग्दर्शनदशा प्रगट होती है। सर्वज्ञ अरहन्त भी आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ – ऐसी प्रतीति करने के बाद अपनी पर्याय में सर्वज्ञ से जितनी अपूर्णता है उसे दूर करने के लिए स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है।

अरहन्त को जानने पर जगत की समस्त आत्माओं का निर्णय हो गया कि जगत के जीव अपनी-अपनी पर्याय से ही सुखी-दुःखी हैं। अरहन्त प्रभु अपनी पूर्ण पर्याय से ही स्वयं सुखी हैं, इसलिए सुख के लिए उन्हें अन्न, जल, वस्त्र इत्यादि किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। जगत के जो जीव दुःखी है। वे अपनी पर्याय के दोष से ही दुःखी हैं। पर्याय में मात्र रागदशा जितना ही अपने आत्मा को मान बैठे है। तथा सम्पूर्ण स्वभाव को भूल गये हैं; इसलिए राग का ही संवेदन करके दुःखी होते हैं; किन्तु किसी निमित्त के कारण या कर्मों के कारण से दुःखी नहीं हैं, अन्न, वस्त्र इत्यादि के न मिलने से भी दुःखी नहीं हैं। दुःख का कारण अपनी मिथ्यारूप पर्याय है। अतः दुःख को दूर करने के लिए

अरहन्त को पहिचानना चाहिए। अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर उन्हीं के समान अपने को मानना चाहिए कि मैं मात्र रागदशा वाला नहीं हूँ; किन्तु मैं तो राग रहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाववाला हूँ, मेरे ज्ञान में दुःख नहीं हो सकता, इसप्रकार जो अपने को द्रव्य-गुण स्वभाव से अरहन्त के समान ही माने तो वर्तमान राग पर से अपने लक्ष्य को हटाकर द्रव्य-गुण स्वभाव पर लक्ष्य करे और अपने स्वभाव की एकाग्रता करके पर्याय के दुःख को दूर करे, ऐसा होने से जगत के किसी भी जीव के पराधीनता नहीं रहती है। मैं किसी अन्य जीव का अथवा जड़ पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता। सम्पूर्ण पदार्थ स्वतन्त्र हैं, मुझे अपनी पर्याय का उपयोग अपनी ओर करना है, यही सुख का उपाय है। इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

पर को दुःख या सुख देने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जगत के जीवों को संयोग का दुःख नहीं है; किन्तु अपने ज्ञानादि स्वभाव की पूर्ण दशा को नहीं जाना, इसका दुःख है। यदि अरहंत के आत्मा के साथ अपने आत्मा का मिलान करे तो अपना स्वभाव प्रतीति में आये। अहो ! अरहंतदेव किसी बाह्य संयोग से सुखी नहीं; किन्तु अपने ज्ञान इत्यादि की पूर्ण दशा से ही वे सम्पूर्ण सुखी हैं। इसलिए सुख आत्मा का ही स्वरूप है इसप्रकार सभी जीव स्वभाव को पहिचानकर राग-द्वेष रहित होकर परमानन्ददशा को प्रगट करें। जिसने अरहंत के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना; उसने अपने स्वरूप को भी नहीं जाना और अपने स्वरूप को नहीं जाना, इसलिए उपर्युक्त सब भूलें होती हैं।

'मुझे परिपूर्ण स्वतंत्र सुखदशा चाहिए है, सुख के लिए जैसी स्वतंत्रदशा होनी चाहिए, वैसी पूर्ण स्वतंत्रदशा अरहन्त के है और अरहंत के समान ही सबका स्वभाव है, इसलिए मैं भी वैसा ही पूर्ण स्वभाववाला हूँ।' इसप्रकार अपने स्वभाव की प्रतीति में भी उन्हीं के साथ मिलाकर बात कही गई है। जिसने अपने ज्ञान में यह निश्चय किया, उसने सुख के लिए पराधीन दृष्टि की अनंत उथल-पुथल को शमन कर दिया है।

पहले अज्ञान से जहाँ-तहाँ उथल-पुथल करता था कि रुपये-पैसे में से सुख प्राप्त कर लूँ, राग में से सुख ले लूँ; देव-गुरु-शास्त्र से सुख प्राप्त कर लूँ अथवा पुण्य करके सुख पा लूँ – इसप्रकार पर के लक्ष्य से सुख मानता था, यह मान्यता दूर हो गई है और मात्र अपने स्वभाव को ही सुख का साधन माना है; ऐसी समझ होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्त्व कैसे होता है ? यह बात चल रही है। जिसप्रकार भगवान अरहन्त पुण्य-पाप से रहित हैं तथा उनके ज्ञान-दर्शन और सुख में कोई कमी नहीं है; उसीप्रकार मेरे स्वरूप में भी पुण्य-पाप नहीं है, कोई कमी भी नहीं है – ऐसी प्रतीति करने पर द्रव्यदृष्टि होती है। अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए अब अपूर्ण अवस्था की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रही; किन्तु पूर्ण शुद्धदशा प्रगट करने के लिए स्वभाव में ही एकाग्रता करने की आवश्यकता है। शुद्धदशा बाहर से प्रगट नहीं होती, स्वभाव में से होती है। स्वभाव में से प्रगट होनेवाली अवस्था को प्रगट करने के लिए स्वभाव में ही एकाग्रता करनी है। इतना जान लेने पर यह धारणा दूर हो जाती है कि किसी भी अन्य पदार्थ की सहायता से मेरा कार्य होता है। वर्तमान पर्याय में जो अपूर्णता है, वह स्वभाव की एकता के पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण करना है, मात्र ज्ञानस्वभाव में ही क्रिया करनी है; यहाँ प्रत्येक पर्याय में सम्यक् पुरुषार्थ का ही काम है।

प्रश्न :– अभी तो प्रत्यक्ष अरहन्त भगवान हैं नहीं, तब फिर अरहन्त को जानने की बात किसलिए की गई है ?

उत्तर :– यहाँ अरहन्त की उपस्थिति की बात नहीं है; किन्तु अरहन्त का स्वरूप जानने की बात है। अरहन्त की साक्षात् उपस्थिति हो तभी उनका स्वरूप जाना जा सकता है – ऐसी बात नहीं है। अमुक क्षेत्र की अपेक्षा से अभी अरहन्त नही हैं; किन्तु उनका अस्तित्व अन्यत्र महाविदेह क्षेत्र इत्यादि में तो अभी भी है। अरहन्त भगवान साक्षात् अपने सन्मुख विराजमान हों तो भी उनका स्वरूप ज्ञान के द्वारा निश्चित होता है। वहाँ अरहन्त तो आत्मा हैं, उनके द्रव्य गुण अथवा पर्याय दृष्टिगत नहीं

होते; तथापि ज्ञान के द्वारा उनका स्वरूप का निर्णय होता है और यदि वे दूर हों तो भी ज्ञान के द्वारा ही उनका निर्णय अवश्य होता है। जब वे साक्षात् विराजमान होते हैं तब भी अरहन्त का शरीर दिखाई देता है। क्या वह शरीर अरहन्त का द्रव्य, गुण अथवा पर्याय है ? क्या दिव्यध्वनि अरहन्त का द्रव्य, गुण अथवा पर्याय है ? नहीं ये सब तो आत्मा से भिन्न हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य उसके ज्ञान-दर्शनादिक गुण और उसकी केवलज्ञानादि पर्याय अरहन्त हैं। यदि उन द्रव्य-गुण-पर्याय को यथार्थतया पहचान लिया जाय तो अरहन्त के स्वरूप को जान लिया कहलायेगा। साक्षात् अरहन्त प्रभु के समक्ष बैठकर उनकी स्तुति करे; परन्तु यदि उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को न समझे तो वह अरहन्त के स्वरूप की स्तुति नहीं कहलायेगी।

क्षेत्र की अपेक्षा से निकट में अरहन्त की उपस्थिति हो या न हो, उनके साथ इसका कोई संबंध नहीं है; किन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं, इसी के साथ संबंध है। क्षेत्रापेक्षा से निकट में ही अरहन्त भगवान विराजमान हों; परन्तु उस समय यदि ज्ञान के द्वारा स्वयं उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता और उसके लिए तो अरहन्त बहुत दूर हैं और वर्तमान में क्षेत्र की अपेक्षा से अरहन्त भगवान निकट नहीं हैं, तथापि यदि अपने ज्ञान के द्वारा अभी भी अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करे तो आत्मा की पहिचान हो और उसके लिए मानो अरहन्त भगवान बिल्कुल निकट ही उपस्थित हैं। यहाँ क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं; किन्तु भाव की अपेक्षा से बात है। यथार्थ समझ का संबंध तो भाव के साथ है।

यहाँ यह कहा गया है कि अरहन्त कब हैं और कब नहीं ? महाविदेहक्षेत्र में अथवा भरतक्षेत्र में चौथे काल में अरहन्त की साक्षात् उपस्थिति के समय भी जिन आत्माओं ने द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने ज्ञान में अरहन्त के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं किया, उन जीवों के लिए तो उस समय भी अरहन्त की उपस्थिति नहीं के बराबर है और भरतक्षेत्र

में पंचमकाल में साक्षात् अरहन्त की अनुपस्थिति है तथापि जिन आत्माओं ने द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने ज्ञान में अरहन्त के स्वरूप का निर्णय किया है, उनके लिए अरहन्त भगवान मानों साक्षात् ही विराजमान हैं।

समवशरण में भी जो जीव अरहन्त के स्वरूप का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझ चुके हैं, उन जीवों के लिए ही अरहन्त भगवान निमित्त कहे गये हैं, किन्तु जिन्होंने निर्णय नहीं किया, उनके लिए तो साक्षात् अरहन्त भगवान भी निमित्त नहीं कहलाये। आज भी जो अरहन्त का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझते हैं उनके लिए उनके ज्ञान में अरहन्त भगवान निमित्त कहलाते हैं। वहाँ भी आत्मा को हाथ में लेकर नहीं दिखाते।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, वह कहता है कि वर्तमान में, इस क्षेत्र में अरहंत नहीं हैं। उससे कहते हैं कि – हे भाई! अरहन्त नहीं हैं; किन्तु अरहन्त का निश्चय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है? जिसकी दृष्टि उपादान पर है, वह अपने ज्ञान के बल से अरहन्त का निर्णय करके क्षेत्रभेद को दूर कर देता है। अरहन्त तो निमित्त हैं। यहाँ अरहन्त का निर्णय करनेवाले ज्ञान की महिमा है। मूलसूत्र में 'जो जाणदि' कहा है अर्थात् जाननेवाला ज्ञान मोहक्षय का कारण है; किन्तु अरहंत तो अलग ही हैं, वे इस आत्मा का मोहक्षय नहीं करते। मोहक्षय का उपाय तो अपने पास ही है।

समवशरण में बैठनेवाला जीव भी क्षेत्र की अपेक्षा से अरहन्त से तो दूर ही बैठता है। यहाँ भी क्षेत्र से अधिक दूर हैं; किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से अन्तर पड़ जाने से भी क्या हुआ? जिसने भाव में अरहन्त को अपने निकट कर लिया है, उसके लिए वे सदा निकट ही विराजते हैं और जिसने भाव में अरहन्त को दूर किया है, उसके लिए दूर हैं। क्षेत्र की दृष्टि से निकट हों या न हों इससे क्या होता है? यहाँ तो भाव के साथ मेल करके निकटता करनी है। अहो! आचार्यदेव ने इतना अधिक खुलासा किया कि – अरहन्त के विरह को भुला दिया है, तब फिर कौन कहता है कि अभी अरहन्त भगवान नहीं है?

यह पंचमकाल के मुनि का कथन है, पंचमकाल में मुनि हो सकते हैं। जो जीव अपने ज्ञान के द्वारा अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है। जो जीव अरहन्त के स्वरूप को विपरीतरूप से मानता हो और अरहन्त का यथार्थ निर्णय किए बिना उनकी पूजा-भक्ति करता हो, उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं हो सकता। जिसने अरहन्त के स्वरूप को विपरीत माना उसने अपने आत्मस्वरूप को भी विपरीत माना है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय बताते हैं, जिनके मिथ्यात्व का नाश हो गया है, उन्हें समझाने के लिए यह बात नहीं है; किन्तु जो मिथ्यात्व का नाश करने के लिए तैयार हुए हैं, उन जीवों के लिए यह कहा जा रहा है। वर्तमान में भी अपने पुरुषार्थ के द्वारा जीव के मिथ्यात्व का नाश हो सकता है; इसलिए यह बात कही है, 'अतः समझ में नहीं आता' – इस धारणा को छोड़कर समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

यद्यपि अभी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता; किन्तु यह बात यहाँ नहीं कही गई है। आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर आत्मस्वरूप का निर्णय किया है, वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व की श्रेणी में ही बैठा है; इसलिए हम अभी से उसके दर्शनमोह का क्षय कहते हैं। भले ही अभी साक्षात् तीर्थंकर नहीं हैं तो भी ऐसे बलवत्तर निर्णय के लिए कदम उठाया है। यहाँ प्रबल पुरुषार्थ की ही मुख्यता से ऐसा कहा है, इसके अभिप्राय को ही ग्रहण करना चाहिए।

अरहन्त का निर्णय करने में सम्पूर्ण स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरहन्त भगवान के जो पूर्ण निर्मलदशा प्रगट हुई है, वह कहाँ से हुई है ? जहाँ थी वहाँ से प्रगट हुई है या जहाँ नहीं थी वहाँ से प्रगट हुई है ? स्वभाव में पूर्ण शक्ति थी; इसलिए स्वभाव के बल से वह दशा प्रगट हुई है, स्वभाव तो मेरे भी सदा परिपूर्ण है, स्वभाव में न्यूनता नहीं है। बस, इस यथार्थ प्रतीति में द्रव्य-गुण-पर्याय की प्रतीति हो गई है और द्रव्य गुण की ओर पर्याय झुकी तथा आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य

की दृष्टि हुई एवं विकल्प की अथवा पर की दृष्टि हट गई। इसप्रकार इसी उपाय में सभी आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर दृष्टि करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं और इसीप्रकार सभी आत्माओं को आत्मज्ञान होता है; सम्यक्त्व का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अनन्त आत्मायें हैं; उनमें अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले या अधिक काल के पश्चात् मोक्ष जानेवाले सभी आत्मा इसी विधि से कर्मक्षय करते हैं। पूर्ण दशा अपनी विद्यमान निज शक्ति में से आती है और शक्ति की दृष्टि करने पर पर का लक्ष्य टूटकर स्व में एकाग्रता का ही भाव रहने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता हैं

यहाँ धर्म करने की बात है। कोई आत्मा परद्रव्य का तो कुछ कर ही नहीं सकता। जैसे अरहन्त भगवान सब कुछ जानते हैं; परन्तु पर-द्रव्य का कुछ भी नहीं करते। इसीप्रकार यह आत्मा भी ज्ञातास्वरूपी है, ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही मोहक्षय का कारण है। क्षणिक विकारी पर्याय में राग का कर्तृत्व माने तो समझना चाहिए कि उस जीव ने अरहन्त के स्वरूप को नहीं माना। ज्ञान में अनन्त परद्रव्य का कर्तृत्व मानना ही महा अधर्म है और ज्ञान में अरहन्त का निर्णय किया कि अनन्त परद्रव्य का कर्तृत्व हट गया, यही धर्म है। ज्ञान में से पर का कर्तृत्व हट गया; इसलिए अब ज्ञान में ही स्थिर होना होता है और पर के लक्ष्य से जो विकारभाव होता है, उसका कर्तृत्व भी नहीं रहता। मात्र ज्ञातारूप से रहता है, यही मोक्षक्षय का उपाय है। जिसने अरहन्त के स्वरूप को जाना वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है और वही जैनी है। जैसा जिनेन्द्र अरहन्त का स्वभाव है वैसा ही अपना स्वभाव है – ऐसा निर्णय करना सो जैनत्व है और फिर स्वभाव के पुरुषार्थ के द्वारा वैसी पूर्ण दशा प्रगट करना सो जिनत्व है। अपना निज स्वभाव जाने बिना जैनत्व नहीं हो सकता।

जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान लिया; उसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता के द्वारा

राग के कारण से जो पर्याय की अनेकता होती है, उसे दूर करूँगा तभी मुझे सुख होगा। इतना निश्चय किया कि उसकी यह सब विपरीत मान्यतायें छूट जाती हैं कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ अथवा विकार से धर्म होता है। अब स्वभाव के बल से स्वभाव में एकाग्रता करके स्थिर होना होता है तब फिर उसके मोह कहाँ रह सकता है? मोह का क्षय हो ही जाता है। मेरे आत्मा में स्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मलता का अंश प्रगट हुआ है वह निर्मलदशा बढ़ते-बढ़ते इस हद तक निर्मलरूप में प्रगट होती है, जो अरहन्त के बराबर निर्मलता प्रगट हो जाती है, वह मेरा स्वरूप है, यदि यह जान ले तो अशुद्ध भावों से अपना स्वरूप भिन्न है – ऐसी शुद्ध स्वभाव की प्रतीति करके दर्शनमोह का उसी समय क्षय कर दे अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि हो जाय; इसलिए अरहन्त भगवान के स्वरूप का द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा यथार्थ निर्णय करने पर आत्मा की प्रतीति होती है और यही मोहक्षय का उपाय है।

अरहन्त का स्वरूप सर्वप्रकार शुद्ध है; इसलिये शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब के समान अरहन्त जैसा ही इस आत्मा का शुद्धस्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। यहाँ मात्र अरहन्त की ही प्रतीति की बात नहीं है; किन्तु अरहंत के स्वरूप से अपने आत्मा की प्रतीति करके उसे जानना है; क्योंकि अरहन्त में और इस आत्मा में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। जो जीव अपने ज्ञान में अरहन्त का निर्णय करता है, उस जीव के भाव में अरहन्त भगवान साक्षात् विराजमान रहते हैं, उसे अरहन्त का विरह नहीं होता । इसप्रकार अपने ज्ञान में अरहन्त की यथार्थ प्रतीति करने पर अपने आत्मा की प्रतीति होती है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। यह पहले कहे गये कथन का सार है।

□

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप

अब द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप विशेषरूप से बताते हैं, उसे जानने के बाद अन्तरंग में किसप्रकार की क्रिया से मोह क्षय को प्राप्त होता है, यह बताते हैं ।

जो जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा को जानता है, उस जीव का मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है – ऐसा कहा है; किंतु यह नहीं कहा कि मोहकर्म का बल कम हो तो आत्मा को जानने का पुरूषार्थ प्रगट हो सकता है; क्योंकि मोहकर्म कहीं आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता। जब जीव अपने ज्ञान में सच्चा पुरुषार्थ करता है, तब मोह अवश्य क्षय हो जाता है। जीव का पुरूषार्थ स्वतंत्र है। 'पहले तू ज्ञान कर तो मोह क्षय को प्राप्त हो' इसमें उपादान से कार्य का होना सिद्ध किया है; किंतु 'पहले मोहक्षय हो तो तुझे आत्मा का ज्ञान प्रगट हो' इसप्रकार निमित्त की ओर से विपरीत कथन को नहीं लिया है; क्योंकि निमित्त को लेकर जीव में कुछ भी नहीं होता।

प्रवचनसार गाथा 80 की टीका के आधार से अब यह बतलाते हैं कि अरहन्त भगवान के स्वरूप में द्रव्य-गुण- पर्याय किसप्रकार हैं। 'वहाँ अन्वय द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं' शरीर अरहन्त नहीं है; किंतु द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप आत्मा अरहन्त है। अनन्त अरहन्त और अनन्त आत्माओं का द्रव्य-गुण-पर्याय से क्या स्वरूप है, यह इसमें बताया है।

यहाँ मुख्यता से अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय की बात है। अरहन्त भगवान के स्वरूप में जो अन्वय है सो द्रव्य है।

प्रश्न :– 'जो अन्वय है सो द्रव्य है' इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– जो अवस्था बदलती है, वह कुछ स्थिर रहकर बदलती है। जैसे पानी में लहरें उठती हैं, वे पानी और शीतलता को स्थिर रखकर उठती हैं; पानी के बिना यों ही लहरें नहीं उठने लगतीं, इसीप्रकार आत्मा में पर्यायरूपी लहरें (भाव) बदलती रहती हैं, उनके

बदलने पर एक-एक भाव के बराबर आत्मा नहीं है; किंतु सभी भावों में लगातार स्थिर रहनेवाला आत्मा है । त्रिकाल स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आधार से पर्यायें परिणमित होती हैं । जो पहले और बाद के सभी परिणामों में स्थिर बना रहता है, वह द्रव्य है। परिणाम तो प्रतिसमय एक के बाद एक नये-नये होते हैं। सभी परिणामों में लगातार एकसा रहनेवाला द्रव्य है। पहले भी वही था और बाद में भी वही है – इसप्रकार पहले और बाद का जो एकत्व है, सो अन्वय है और जो अन्वय है सो द्रव्य है ।

पहले अज्ञानदशा थी, फिर ज्ञानदशा प्रकट हुई, इस अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में जो स्थिररूप में भी ध्रुवरूप में विद्यमान है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहिले अज्ञानरूप था, वही अब ज्ञानरूप है। इसप्रकार पहले और बाद के जोड़रूप जो पदार्थ है, वह द्रव्य है। पर्याय पहले और पश्चात् की जोड़रूप नहीं होती, वह तो पहिले और बाद की अलग-अलग (व्यतिरेकरूप) होती है और द्रव्य पूर्व-पश्चात् के सम्बन्ध रूप (अन्वयरूप) होता है। जो एक अवस्था है वह दूसरी नहीं होती और जो दूसरी अवस्था है, वह तीसरी नहीं होती – इसप्रकार अवस्था में पृथक्त्व है; किंतु जो द्रव्य पहले समय में था, वही दूसरे समय में है और जो दूसरे समय में था वही तीसरे समय में है –इसप्रकार द्रव्य में लगातार सादृश्य है।

जैसे सोने की अवस्था की रचनाएँ अनेकप्रकार की होती हैं, उसमें अंगूठी के आकार के समय कुण्डल नहीं होता और कुण्डलरूप आकार के समय कड़ा कहीं होता, इसप्रकार प्रत्येक पर्याय के रूप में पृथक्त्व है, किन्तु जो सोना अंगूठी के रूप में था, वही सोना कुण्डल के रूप में है और जो कुण्डल के रूप में था, वही कड़े के रूप में है –सभी प्रकारों में सोना तो एक ही है, किस आकार– प्रकार में सोना नहीं है ? सभी अवस्थाओं के समय सोना है। इसीप्रकार अज्ञानदशा के समय साध ाकदशा नहीं होती, साधकदशा के समय साध्यदशा नहीं होती –

इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का पृथक्त्व है; किन्तु जो आत्मा अज्ञानदशा में था, वही साधकदशा में है और जो साधकदशा में था वही साध्यदशा में है। सभी अवस्थाओं में आत्मद्रव्य तो एक ही है। किस अवस्था में आत्मा नहीं है ? सभी अवस्थाओं में निरन्तर साथ रहकर गमन करनेवाला आत्मद्रव्य है।

पहले और पश्चात् जो स्थिर रहता है, वह द्रव्य है। कड़ा, कुण्डल और अगूँठी इत्यादि सभी अवस्थाओं में रहनेवाला सोना द्रव्य है – यह तो कहा है; परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि सोना पीला है, भारी है, चिकना है – इसप्रकार पीलापन, भारीपना और चिकनापन आदि सोने का गुण है, इसीप्रकार अरहन्त की पहले की और बाद की अवस्था में जो स्थिर रहता है, वह आत्मद्रव्य है – वह आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, चारित्ररूप है – इसप्रकार आत्मद्रव्य के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र विशेषण आत्मद्रव्य के गुण हैं। द्रव्य की शक्ति को गुण कहा जाता है। आत्मा चेतनद्रव्य है और चैतन्य उसका विशेषण है। परमाणु में जो पुद्गल है सो द्रव्य है और वर्ण, गन्ध इत्यादि उसके विशेषण-गुण हैं। वस्तु में कोई विशेषण तो होता ही है, जैसे – मिठास गुड़ का विशेषण है। इसप्रकार आत्मद्रव्य का विशेषण क्या है ? अरहन्त भगवान का आत्मद्रव्य कैसा है ? – यह पहले कहा जा चुका है। अरहन्त में किंचित् मात्र भी राग नहीं है और परिपूर्ण ज्ञान है अर्थात् ज्ञान अरहंतरूप आत्मद्रव्य का विशेषण है।

यहाँ मुख्यता से ज्ञान की बात कही है, इसीप्रकार दर्शन, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि जो अनन्त गुण हैं, वे सब आत्मा के विशेषण हैं। अरहन्त भगवान आत्मद्रव्य हैं और उस आत्मा में अनन्त सहवर्ती गुण हैं, वैसा ही मैं भी आत्मद्रव्य हूँ और मुझमें वे सब गुण विद्यमान हैं। इसप्रकार जो अरहन्त के आत्मा को द्रव्य, गुण रूप में जाना जानता है, वह अपने आत्मा को भी द्रव्य, गुणरूप में जानता है। वह स्वयं समझता है कि द्रव्य, गुण के जान लेने पर अब पर्याय में मुझे क्या करना चाहिए। इसप्रकार

द्रव्यरूप से और गुणरूप से आत्मा की पहचान कराई है।

'अन्वय के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं' – इसमें पर्यायों की परिभाषा बताई है। द्रव्य के जो भेद हैं सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है, उस द्रव्य को क्षण-क्षण के भेद से लक्ष्य में लेना सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है व्यतिरेक अर्थात् एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एकसाथ होते है; किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है। जब अरहन्त भगवान के केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है, तब उनके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक–एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं सो पर्याय हैं। कोई भी वस्तु पर्याय के बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य सदा स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, उनमें भेद नहीं हैं; किन्तु पर्याय में अनेक प्रकार से परिवर्तन होता है; इसलिए पर्याय में भेद है। पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताकर फिर तीनों को अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की परिभाषा पूर्ण हुई।

अरहन्त भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाननेवाला जीव अपने आत्मा को भी जानता है। उसे जाने बिना दया, भक्ति, पूजा, तप, ब्रह्मचर्य या शास्त्राभ्यास इत्यादि सब कुछ करने पर भी धर्म होता और मोह दूर नहीं होता। इसलिए पहले अपने ज्ञान से अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करना चाहिए, यही करने के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य है।

पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है। अरहन्त द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्यायमय को जान लेता है – यह बात अब यहाँ कही जाती है।

अरहन्त भगवान का स्वरूप सर्वतः विशुद्ध है अर्थात् वे

गुण से और पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय से उनके स्वरूप को जानने पर उस जीव के समझ में यह आ जाता है कि अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से, पर्याय से कैसा है ?

जिसने अपने ज्ञान से अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य में लिया है, उस जीव को अरहन्त का विचार करने पर परमार्थ से अपना ही विचार आता है। अरहन्त के द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानमय है, सम्पूर्ण विकार रहित है, ऐसा निर्णय करने पर यह प्रतीति होती है कि अपने द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानरूप, विकार रहित होनी चाहिए।

जैसे भगवान अरहन्त हैं, वैसा ही मैं हूँ, इसप्रकार अरहन्त को जानने पर स्व समय को मन के द्वारा जीव जान लेता है। अरहंत के लक्ष्य से अपने आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना प्रारम्भ करता है। यहाँ पर लक्ष्य से निर्णय होने के कारण यह कहा है कि मन के द्वारा अपने आत्मा को जान लेता है। यद्यपि यहाँ विकल्प है; तथापि विकल्प के द्वारा जो निर्णय कर लिया है; उस निर्णयरूप खान में से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा विकल्प से ज्ञान किया है; तथापि निर्णय के बल से ज्ञान में से विकल्प को अलग करके स्वलक्ष्य से ठीक समझकर मोह का क्षय अवश्य करेगा – ऐसी शैली है। जिसने मन के द्वारा आत्मा का निर्णय किया है, उसकी सम्यक्त्व के सन्मुखदशा हो चुकी है।

अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाननेवाला जीव द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अपने आत्मा के विषय में विचार करता है कि यह चेतन है, 'यह चेतन है ऐसा जो अन्वय सो द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला जो 'चैतन्य' विशेषण है सो गुण है और एक समय की मर्यादावाले एक दूसरे में प्रवृत्त न होनेवाले जो अन्वय के व्यतिरेक हैं) सो पर्याय हैं, जो कि चिद्-विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ हैं।

पहले अरहन्त भगवान को सामान्यतया जानकर अब उनके स्वरूप

को लक्ष्य में रखकर द्रव्य-गुण-पर्याय से विशेषरूप में विचार करते हैं। 'यह अरहन्त आत्मा है' इसप्रकार द्रव्य को जान लिया। ज्ञान को धारण करनेवाला जो सदा रहनेवाला द्रव्य है सो वही आत्मा है। इसप्रकार अरहन्त के साथ आत्मा की समानता बताई है।

चेतन द्रव्य आत्मा है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है, चैतन्य गुण आत्मद्रव्य के आश्रित है, सदा स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आश्रय से ज्ञान रहता है, द्रव्य के आश्रय से रहनेवाला होने से ज्ञान गुण है। अरहन्त के गुण को देखकर यह जीव निश्चय करता है कि स्वयं अपने आत्मा के गुण कैसे हैं, जैसा अरहन्त का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है।

द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं सो पर्याय है। पर्याय की मर्यादा एकसमयमात्र की है। एक ही समय की मर्यादा होती है; इसलिये दो पर्याय कभी एकत्रित नहीं होती। पर्यायें एक दूसरे में अप्रवृत्त हैं, एक पर्याय दूसरी पर्याय में नहीं आती; इसलिये पहली पर्याय के विकार रूप होने पर भी मैं अपने स्वभाव से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि विकार एकसमयमात्र के लिये है और विकाररहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एकसमयमात्र के लिये ही होती है। यह जान लेने पर यह प्रतीति हो जाती है कि विकार क्षणिक है। इसप्रकार अरहन्त के साथ समानता करके अपने स्वरूप में उसे मिलाता है।

चेतन की एक समयवर्ती पर्यायें ज्ञान की ही गांठें हैं। पर्याय का सम्बन्ध चेतन के साथ है। वास्तव में राग चेतन की पर्याय नहीं है; क्योंकि अरहन्त की पर्याय में राग नहीं है। जितना अरहन्त की पर्याय में होता है, उतना ही इस आत्मा की पर्याय का स्वरूप है।

पर्याय प्रतिसमय की मर्यादावाली है। एक पर्याय का दूसरे समय में नाश हो जाता है; इसलिये एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं आती, किन्तु द्रव्य में से ही पर्याय आती है, इसलिये पहले द्रव्य का स्वरूप बताया है। पर्याय में जो विकार है सो स्वरूप नहीं है; किन्तु

गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिये; इसलिये बाद में गुण का स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्प में से पर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि पर्याय एक दूसरे में प्रवृत्त नहीं होती। पर्याय स्वयं तो एक समय मात्र के लिये है; परन्तु एक समय की पर्याय से त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति बताने के लिए उसे चिद् विवर्तन की ग्रन्थी कहा है।

अरहन्त के केवलज्ञानदशा होती है, जो केवलज्ञानदशा है सो चिद् विवर्तन की वास्तविक ग्रन्थी है। जो अपूर्ण ज्ञान है सो स्वरूप नहीं है। केवलज्ञान होने पर एक ही पर्याय में लोकालोक का पूर्ण ज्ञान समाविष्ट हो जाता है, मति-श्रुत पर्याय में भी अनेकानेक भावों का निर्णय समाविष्ट हो जाता है।

यद्यपि पर्याय स्वयं एक समय की है; तथापि उस एक समय में सर्वज्ञ के परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने ज्ञान में समाविष्ट कर लेती है। संपूर्ण अरहन्त का निर्णय एक समय में कर लेने से पर्याय चैतन्य की गांठ है।

अरहंत की पर्याय सर्वतः सर्वथा शुद्ध है। यह शुद्ध पर्याय जब ख्याल में ली, तब उससमय निज के वैसी पर्याय वर्तमान में नहीं है; तथापि यह निर्णय होता है कि मेरी अवस्था का स्वरूप अनंत ज्ञानशक्तिरूप सम्पूर्ण है, रागादिक मेरी पर्याय का मूलस्वरूप नहीं है।

इसप्रकार अरहंत के लक्ष्य से द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अपने आत्मा को शुभविकल्प के द्वारा जाना है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को एक ही साथ जान लेनेवाला जीव बाद में क्या करता है और उसका मोह कब नष्ट होता है – यह अब कहते हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर जीव त्रैकालिक द्रव्य को एक काल में निश्चित कर लेता है। आत्मा के त्रैकालिक होने पर भी जीव उसके त्रैकालिक स्वरूप को एक ही काल में समझ लेता है। अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जान लेने पर अपने में क्या फल

प्रगट हुआ है – यह बतलाते हैं। त्रैकालिक पदार्थ को इसप्रकार लक्ष्य में लेता है कि जैसे अरहन्त भगवान त्रिकाली आत्मा हैं वैसा ही मैं त्रिकाली आत्मा हूँ। त्रिकाली पदार्थ को जान लेने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता; किन्तु वर्तमान एक पर्याय के द्वारा त्रैकालिक का ख्याल हो जाता है – उसका अनुभव हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व कैसे होता है – इसकी यह बात है। प्रारम्भिक क्रिया यही है। इसी क्रिया के द्वारा मोह का क्षय होता है।

जीव को सुख चाहिए। इस जगत में सम्पूर्ण स्वाधीन सुखी श्री अरहन्त भगवान हैं। इसलिए सुख चाहिए का अर्थ यह हुआ कि स्वयं भी अरहन्तदशारूप होना है। जिसने अपने आत्मा को अरहन्त जैसा माना है, वही स्वयं अरहन्त जैसी दशारूप होने की भावना करता है। जिसने अपने को अरहन्त जैसा माना है, उसने अरहन्त के समान द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अन्य सब अपने आत्मा में से निकाल दिया है। (यहाँ पहले मान्यता-श्रद्धा करने की बात है) परद्रव्य का कुछ करने की मान्यता, शुभराग से धर्म होने की मान्यता तथा निमित्त से हानि-लाभ होने की मान्यता दूर हो गई है; क्योंकि अरहन्त के आत्मा में ये सब कुछ नहीं हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने के बाद क्या करना चाहिए ?

अरहन्त के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाननेवाला जीव त्रैकालिक आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से एक क्षण में समझ लेता है। बस ! जहाँ आत्मा को समझ लेने तक की बात की है; वहाँ तक विकल्प है, विकल्प के द्वारा आत्मलक्ष्य किया है, अब उस विकल्प को तोड़कर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद को छोड़कर आत्मा का लक्ष्य करने की बात कहते हैं। इस अभेद का लक्ष्य करना ही अरहन्त को जानने का सच्चा फल है और जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब उसी क्षण मोह का क्षय हो जाता है।

जिस अवस्था के द्वारा अरहन्त को जानकर त्रैकालिक द्रव्य का

ख्याल किया, उस अवस्था में जो विकल्प होता है वह अपना स्वरूप नहीं है; किन्तु जो ख्याल किया है, वह अपना स्वभाव है। ख्याल करनेवाला जो ज्ञान है, वह सम्यक्ज्ञान की जाति का है, किन्तु अभी परलक्ष्य है; इसलिए यहाँ तक सम्यग्दर्शन प्रगटरूप नहीं है। अब उस अवस्था को पर लक्ष से सम्यग्दर्शन को प्रगटरूप करता है। जैसे मोती का हार झूल रहा हो तो उस झूलते हुए हार को लक्ष में लेने पर उसके पहिले से अन्त तक के सभी मोती उस हार में ही समाविष्ट हो जाते हैं और हार तथा मोतियों का भेद लक्ष में नहीं आता। यद्यपि प्रत्येक मोती पृथक्-पृथक् है; किन्तु जब हार को देखते हैं, तब एक-एक मोती का लक्ष छूट जाता है। परन्तु पहिले हार का स्वरूप जानना चाहिए कि हार में अनेक मोती हैं और हार सफेद है, इसप्रकार पहले हार, हार का रंग और मोती – इन तीनों का स्वरूप जाना हो तो उन तीनों को झूलते हुए हार में समाविष्ट करके हार को एकरूप से लक्ष में लिया जा सकता है। मोतियों का जो लगातार तारतम्य है सो हार है। प्रत्येक मोती उस हार का विशेष है और सब विशेषों को यदि एक सामान्य में संकलित किया जाय तो हार लक्ष में आता है। हार की तरह आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानकर पश्चात् समस्त पर्यायों को और गुणों को एक चैतन्य द्रव्य में ही अन्तर्गत करने पर द्रव्य का लक्ष होता है और उसी क्षण सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय हो जाता है।

यहाँ झूलता हुआ अथवा लटकते हुए हार का दृष्टान्त इसलिए लिया है कि वस्तु कुटस्थ नहीं है; किन्तु प्रतिसमय झूल रही है अर्थात् प्रत्येक समय में द्रव्य में परिणमन हो रहा है। जैसे हार के लक्ष से मोती का लक्ष छूट जाता है; उसीप्रकार द्रव्य के लक्ष से पर्याय का लक्ष छूट जाता है। पर्यायों में बदलने वाला तो एक आत्मा है, बदलनेवाले के पक्ष से समस्त परिणामों को उस आत्मा में अन्तर्गत किया जाता है। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न है;

किन्तु जब द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं, तब समस्त पर्यायें उसमें अन्तर्गत हो जाती हैं। इसप्रकार आत्मद्रव्य को ख्याल में लेना सम्यग्दर्शन है।

प्रथम आत्मद्रव्य, आत्मा के गुण और आत्मा की अनादि अनन्त काल की पर्यायें, इन तीनों का वास्तविक स्वरूप (अरहंत के स्वरूप के साथ सादृश्य करके) निश्चित किया हो तो फिर द्रव्य के उन गुण-पर्यायों को एक परिणमित होते हुए द्रव्य में ही समाविष्ट करके द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष में लिया जा सकता है। पहिले सामान्य-विशेष (द्रव्य एवं पर्यायों) को जानकर फिर विशेषों को सामान्य में अंतर्गत किया जाता है; किन्तु जिसने सामान्य-विशेष का स्वरूप ही नहीं जाना हो, वह विशेष को सामान्य में अंतर्लीन कैसे करे ?

पहिले जिसप्रकार अरहंत के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाना, उसीप्रकार अपने आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानकर उसें लक्ष में ले। पश्चात् जिस जीव ने अपने गुण- पर्यायों को एक द्रव्य में संकलित किया है, अपने आत्मा को स्वभाव में धारण किया है। वहाँ मोह को रहने का स्थान नहीं रहता। मोह निराश्रयता के कारण उसी क्षण क्षय को प्राप्त होता है। पहिले अज्ञान के कारण द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद करता था; इसलिये उन भेदों के आश्रय से मोह रह रहा था; किंतु जहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद किया, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद दूर हो जाने से **मोह क्षय को प्राप्त होता है।** द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता ही धर्म है।

जिसप्रकार पर्याय के विस्तार को द्रव्य में संकलित कर दिया, उसीप्रकार विशेष्य-विशेषणपन की वासना को भी दूर करके,गुण को भी द्रव्य में ही अन्तर्हित करके मात्र आत्मा को ही जानने पर मोह का क्षय हो जाता है।

जैसे झूलते हुए हार को लक्ष में लेते समय ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'यह हार सफेद है' अर्थात् उसकी सफेदी को झूलते हुए हार में ही विलीन कर दिया जाता है; इसीप्रकार आत्मद्रव्य में 'यह आत्मा और

ज्ञान उसका गुण अथवा आत्मा ज्ञानस्वभावी है' ऐसे गुण-गुणी भेद की कल्पना दूर करके गुण को द्रव्य में ही अदृश्य करना चाहिए। मात्र आत्मा को लक्ष में लेने पर ज्ञान और आत्मा के भेद सम्बन्धी विचार लुप्त हो जाते हैं; गुण-गुणी भेद का विकल्प टूटकर एकाकार चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

हार में पहले तो मोती का मूल्य उसकी चमक और हार की गुंथाई को जानता है, पश्चात् मोती का लक्ष छोड़कर 'यह हार सफेद है' इसप्रकार गुण-गुणी के भेद से हार को लक्ष में लेता है और फिर मोती, उसकी सफेदी और हार इन तीनों के संबंध के विकल्प छूटकर-मोती और उसकी सफेदी को हार में ही अदृश्य करके मात्र हार का ही अनुभव किया जाता है; इसीप्रकार पहिले अरहंत का निर्णय करके द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाने कि – ऐसी पर्याय मेरा स्वरूप है, ऐसे मेरे गुण हैं और मैं अरहन्त जैसा ही आत्मा हूँ। इसप्रकार विकल्प के द्वारा जानने के बाद पर्याय के अनेक भेद का लक्ष छोड़कर "मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ" इसप्रकार गुण-गुणी भेद के द्वारा आत्मा को लक्ष में ले और फिर द्रव्य, गुण अथवा पर्याय संबंधी विकल्पों को छोड़कर मात्र आत्मा का अनुभव करने के समय वह गुण-गुणी भेद भी लुप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञानगुण आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है; इसप्रकार केवल आत्मा का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है।

हार को खरीदनेवाला आदमी खरीदते समय हार तथा उसकी सफेदी और उसके मोती इत्यादि सबकी परीक्षा करता है; परन्तु बाद में सफेदी और मोतियों को हार में समाविष्ट करके-उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर केवल हार को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हार को पहिनने की स्थिति में भी सफेदी इत्यादि के विकल्प रहने से वह हार को पहिनने के सुख का संवेदन नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार आत्मस्वरूप को समझनेवाला समझते समय तो द्रव्य-गुण-पर्याय– इन तीनों के स्वरूप का विचार करता है; परन्तु बाद में गुण और

पर्याय को द्रव्य में ही समाविष्ट करके-उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर मात्र आत्मा को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो द्रव्य का स्वरूप ख्याल में आने पर भी गुण-पर्याय सम्बन्धी विकल्प रहने से द्रव्य का अनुभव नहीं कर सकेगा।

द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जानने के बाद मात्र अभेद स्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही धर्म की प्रथम क्रिया है। इसी क्रिया से अनन्त अरहन्त तीर्थंकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में भी मुमुक्षुओं के लिये यही उपाय है और भविष्य में जो अनन्त तीर्थंकर होंगे वे सब इसी उपाय से होंगे।

सर्व जीवों को सुखी होना है, सुखी होने के लिए स्वाधीनता चाहिए, स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण स्वाधीनता का स्वरूप जानना चाहिए, सम्पूर्ण स्वाधीन अरहंत भगवान हैं; इसलिए अरहंत का ज्ञान करना चाहिए। जैसे अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, वैसे ही अपने हैं। अरहन्त के राग-द्वेष नहीं हैं, वे न तो अपने शरीर का कुछ करते हैं और न पर का ही कुछ करते हैं। उनके दया अथवा हिंसा के विकारी भाव नहीं होते, वे मात्र ज्ञान ही करते हैं; इसीप्रकार मैं भी ज्ञान करनेवाला ही हूँ, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमान अवस्था का दोष भी मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार पहले भेद के द्वारा निश्चित करना चाहिए, किन्तु बाद में भेद के विचार को छोड़कर मात्र आत्मा को जानने से स्वाधीनता का उपाय प्रगट होता है।

अब कहते हैं कि पर्यायों और गुणों को एक द्रव्य में अन्तर्लीन करके केवल आत्मा को जानने से अन्तरंग में कैसी अनुभूति होती है ?

केवल आत्मा को जानने पर उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय हो जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता जाता है। मैं आत्मा हूँ, ज्ञान मेरा गुण है और यह मेरी पर्याय है – ऐसे भेद की क्रिया से रहित, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित

पर्याय है – ऐसे भेद की क्रिया से रहित, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित निष्क्रिय चैतन्यभाव का अनुभव करने में अनन्त पुरुषार्थ है, अपना आत्मबल स्वोन्मुख होता है। कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का विभाग क्षय को प्राप्त होता है।

पहिले विकल्प के समय 'मैं कर्ता हूँ और पर्याय मेरा कार्य है' इसप्रकार कर्ता-कर्म का भेद होता था; किन्तु जब पर्याय को द्रव्य में ही मिला दिया, तब द्रव्य और पर्याय के बीच कोई भेद नहीं रहा अर्थात् द्रव्य कर्ता और पर्याय उसका कार्य है – ऐसे भेद का अभेद के अनुभव के समय क्षय हो जाता है। पर्यायों को और गुणों को अभेदरूप से आत्मद्रव्य में ही समाविष्ट करके परिणामी, परिणाम और परिणति (कर्ता-कर्म और क्रिया) को अभेद में समाविष्ट करके अनुभव करना सो अनन्त पुरुषार्थ हैं और यही ज्ञान का स्वभाव है। भंग-भेद में जाने पर ज्ञान और वीर्य कम होते जाते हैं और अभेद का अनुभव करने पर उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म क्रिया का भेद टूट जाता है।

अनुभूति के समय पर्याय द्रव्य के साथ अभिन्न होती जाती है; परन्तु अभी सर्वथा अभिन्न नहीं हुई है। यदि सर्वथा अभिन्न हो जाए तो उसीसमय केवलज्ञान हो जाय, परन्तु ज्ञानोपयोग जिससमय अभेद के अनुभव की ओर ढलता है, उसी क्षण में प्रत्येक पर्याय में भेद का क्रम टूटने लगता है और अभेद का क्रम बढ़ने लगता है। जब पर की ओर लक्ष था, तब पर के लक्ष से उत्तरोत्तर क्षण में भेदरूप पर्याय होती थी अर्थात् पर्याय प्रतिक्षण हीन होती जाती थी और जब ज्ञानोपयोग पर का लक्ष छोड़कर निज में अभेद के लक्ष से एकाग्र हो गया तब निज लक्ष से उत्तरोत्तर क्षण में पर्याय अभिन्न होने लगी अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय की शुद्धता बढ़ने लगी। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि क्रमशः प्रत्येक पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होकर केवलज्ञान ही होता है। बीच में शिथिलता अथवा विघ्न नहीं आ सकता। सम्यक्त्व हुआ सो हुआ, अब उत्तरोत्तर क्षण में द्रव्य-पर्याय के बीच के भेद को सर्वथा तोड़कर

केवलज्ञान को प्राप्त किए बिना नहीं रुकता।

ज्ञानरूपी अवस्था के कार्य में अनन्त केवलज्ञानियों का निर्णय समा जाता है, प्रत्येक पर्याय की ऐसी शक्ति है। जिस ज्ञान की पर्याय ने अरहंत का निर्णय किया, उस ज्ञान में अपना निर्णय करने की शक्ति है। पर्याय की शक्ति चाहे जितनी हो, तथापि वह पर्याय क्षणिक है। एक के बाद एक अवस्था का लक्ष करने पर उसमें भेद का विकल्प उठता है; क्योंकि अवस्था में खण्ड है; खण्ड के लक्ष से खण्ड का विकल्प उठता है। अवस्था के लक्ष में अटकनेवाला वीर्य और ज्ञान दोनों रागवाले हैं। जब पर्याय का लक्ष छोड़कर भेद के राग को तोड़कर अभेद स्वभाव की ओर वीर्य को लगाकर ज्ञान की एकाग्रता करता है, तब निष्क्रिय चिन्मात्रभाव का अनुभव होता है, यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

प्रश्न :– यहाँ चिन्मात्र को 'निष्क्रिय' कहने का कारण क्या है ?

उत्तर :– यहाँ परिणतिरूप क्रिया तो है; परन्तु खण्डरूप (रागरूप) क्रिया का अनुभव नहीं है। कर्ता-कर्म और क्रिया का भेद नहीं है तथा कर्ता-कर्म-क्रिया संबंधी विकल्प नहीं है – इस अपेक्षा 'निष्क्रिय' कहा गया है; फिर भी अनुभव के समय अभेदरूप से परिणति तो होती रहती है। पहिले जब परलक्ष से द्रव्य-पर्याय के बीच भेद होते थे, तब विकल्परूप क्रिया थी; किन्तु निज द्रव्य के लक्ष से एकाग्रता करने पर द्रव्य-पर्याय के बीच का भेद टूटकर दोनों अभेद हो गए, इस अपेक्षा से चैतन्यभाव को निष्क्रिय कहा है। जानने के अतिरिक्त जिसकी अन्य कोई क्रिया नहीं है – ऐसे ज्ञानमात्र निष्क्रियभाव को जीव प्राप्त कर सकता है। अभेद अनुभव के द्वारा चिन्मात्रभाव' को प्राप्त करता है यह बात अपेक्षा से कही है।

अब चिन्मात्रभाव को प्राप्त करने पर मोह नाश को प्राप्त होता है। इसप्रकार नास्ति की अपेक्षा से बात करते हैं। चिन्मात्रभाव की प्राप्ति और मोह का क्षय यह दोनों एक ही समय में होते हैं। ''इसप्रकार

जिसका निर्मलप्रकाश मणि (रत्न) के समान अकम्परूप से प्रवर्तता है – ऐसे उस चिन्मात्रभाव को प्राप्त जीव का मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही नष्ट हो जाता है।"

यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की बात है; इसलिए मणि का दृष्टान्त दिया है। दीप का प्रकाश तो प्रकम्पित होता है, वह एक समान नहीं रहता; किन्तु मणि का प्रकाश अकम्परूप से सतत् प्रवर्तमान रहता है उसका प्रकाश कभी बुझता नहीं है। इसीप्रकार अभेद चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में लक्ष करके वहाँ एकाकार रूप से प्रवर्तमान जीव के चैतन्य का अकम्पदशा प्रगट होने पर मोहान्धकार निराश्रय हो जाता है और अवश्यमेव क्षय को प्राप्त हो जाता है। जब भेद की ओर झुक रहा था, तब अभेद चैतन्यस्वभाव का आश्रय न होने से मोहान्धकार बना हुआ था। अब अभेद चैतन्य का प्रकाश प्रगट हो गया है, तब फिर मोह किसके आश्रय से रहेगा ? मोह का आश्रय तो अज्ञान था, जिसका नाश हो चुका है और स्वभाव के आश्रय से मोह रह नहीं सकता; इसलिए वह अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है। जब पर्याय का लक्ष पर में था, तब उस पर्याय में भेद था और उस भेद के आश्रय से मोह था, किन्तु जब वह पर्याय निज लक्ष की ओर गई, तब वह अभिन्न हो गई और अभेद होने पर मोह का आश्रय न रहा; इसलिए निराश्रित मोह को प्राप्त हो गया।

यहाँ सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का उपाय बताया जा रहा है। सम्यग्दर्शन के होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि पुण्य और पाप पर के लक्ष से, भेद के आश्रय से होते हैं; अभेद के आश्रय से पुण्य-पाप नहीं होते, इसलिए पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, दोनों में समभाव हो जाता है, यही श्रद्धारूपी सामायिक है। पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है – यह मानकर जो पुण्य को आदरणीय मानता है, उसके भाव में श्रद्धारूपी समायिक नहीं है।

□

अरहंत का स्वरूप और सम्यग्दर्शन

जबतक अरहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को लक्ष था, तबतक भेद था; जब द्रव्य, गुण पर्याय को छोड़कर अभेदस्वभाव की ओर झुका और वहाँ एकाग्रता की, तब स्वभाव को अन्यथा माननेरूप मोह नहीं रहता और इसलिए मोह निराश्रय होकर नष्ट हो जाता है और इसप्रकार अरहन्त को जाननेवाले जीव के सम्यग्दर्शन हो जाता है।

वस्तु का सच्चा स्वरूप क्या है – यह जानने के लिए अरहन्त को जानने की आवश्यकता है, क्योंकि अरहन्त भगवान द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप से सम्पूर्ण शुद्ध है। जैसे अरहन्त हैं, वैसा ही जबतक यह आत्मा न हो तबतक उसकी पर्याय में दोष है – अशुद्धता है।

अरहन्त जैसी अवस्था तब होती है, जब पहले अरहन्त के माध्यम से अपने आत्मा का शुद्ध स्वरूप निश्चित करे। उस शुद्ध स्वरूप में एकाग्रता करके, भेद को तोड़कर, अभेदस्वरूप का आश्रय करके पराश्रय बुद्धि का नाश होता है, मोह दूर होता है और क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है। क्षायिक सम्यक्त्व के प्रगट होने पर आंशिक अरहन्त जैसी दशा प्रगट होती है और अरहन्त होने के लिए प्रारम्भिक उपाय सम्यग्दर्शन ही है। अभेदस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद जैसे-जैसे उस स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे राग दूर हो जाता है, त्यों-त्यों व्रत-महाव्रतादि का पालन होता रहता है; किन्तु अभेदस्वभाव की प्रतीति के बिना भी व्रत या महाव्रतादि नहीं होते। अपने आत्मा का आश्रय लिए बिना आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली दशा (श्रावकदशा, मुनिदशा आदि) नहीं हो सकती और निर्मलदशा के प्रगट हुए बिना धर्म का एक भी अंग प्रगट नहीं हो सकता। अरहन्त की पहिचान होने पर अपनी पहिचान हो जाती है और अपनी पहिचान होने पर मोह का क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अरहन्त की सच्ची पहिचान मोह क्षय का उपाय है।

स्वभाव की निःशंकता

अब आचार्यदेव अपनी निःशंकता को साक्षीपूर्वक कहते हैं कि – "यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय कर लिया है।" यहाँ मात्र अरहन्त को जानने की बात नहीं है; किन्तु अपने स्वभाव को एकमेक करके यह ज्ञान करने की बात है कि मेरा स्वरूप अरहन्त के समान ही है। यदि अपने स्वभाव की निःशंकता प्राप्त न हो तो अरहन्त के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं होता। आचार्यदेव अपने स्वभाव को निःशंकता से कहते हैं कि भले ही इस काल में क्षायिक सम्यक्त्व और साक्षात् भगवान अरहन्त का योग नहीं है; तथापि मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया। देखो ! पंचमकाल में मोह का सर्वथा क्षय नहीं हो सकता– ऐसी बात आचार्यदेव ने नहीं की, किन्तु मैंने तो मोहक्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है – ऐसा कहा है। भविष्य में मोहक्षय का उपाय प्रगट होगा – ऐसा नहीं; किन्तु वर्तमान में ही मोहक्षय का उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है – ऐसा कहकर आत्मविश्वास प्रगट किया है।

आत्मा का स्वभाव ही मोह का नाशक है और मुझे आत्म स्वभाव की प्राप्ति हो चुकी है; इसलिये मेरे मोह का क्षय होने में कोई शंका नहीं है। आत्मा में सब कुछ है,उसी के बल से दर्शनमोह और चारित्रमोह का सर्वथा क्षय करके, केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात् अरहन्त दशा प्रगट करूँगा। जबतक ऐसी संपूर्ण स्वभाव की निःशंकता का बल प्राप्त नहीं होता, तबतक मोह दूर नहीं होता।

मोह का नाश करने के लिये न तो परजीवों की दया पालन करने को कहा है और न पूजा, भक्ति करने का ही आदेश दिया है; किन्तु यह कहा है कि अरहन्त का और अपने आत्मा का निर्णय करना ही मोहक्षय का उपाय है। पहले आत्मा की प्रतीति न होने से अपनी अनन्त हिंसा करता था और अब यथार्थ प्रतीति करने से अपनी सच्ची दया प्रगट हो गई है और स्व-हिंसा का महापाप दूर हो गया है। □

पुरुषार्थ की प्रतीति

पहले हार के दृष्टान्त से द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप बताया है। जैसे हार में मोती एक के बाद दूसरा क्रमशः होता है, उसीप्रकार द्रव्य में एक के बाद दूसरी पर्याय होती है। सर्वज्ञ के निर्णय से क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय हो जाता है। केवलज्ञानगम्य त्रिकाल अवस्थायें एक के बाद दूसरी होती ही रहती हैं। वास्तव में तो मेरे स्वभाव में जो क्रमबद्ध अवस्था है , उसी को केवलज्ञानी ने जाना है। ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसी ने अपने स्वभाव की प्रतीति की है; क्योंकि वह जानता है कि अवस्था तो मेरे स्वभाव में से क्रमबद्ध आती है, कोई परद्रव्य मेरी अवस्था को बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी को ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि बहुत से कर्मों का तीव्र उदय आया तो मैं गिर जाऊँगा। जहाँ स्वभाव की प्रतीति है वहाँ गिरने की शंका नहीं होती। जिसने अरहंत जैसे ही अपने स्वभाव का विश्वास करके क्रमबद्ध पर्याय और केवलज्ञान को स्वभाव में अन्तर्गत किया है, उसकी क्रमबद्ध पर्याय में केवलज्ञान होता है।

जो दशा अरहन्त भगवान के प्रगट हुई है, वैसी ही दशा मेरे स्वभाव में है। अरहन्त के जो दशा प्रगट हुई है, वह उनके अपने स्वभाव में से प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरहन्त जैसा है। उसी में से मेरी शुद्धदशा प्रगट होगी। जिसे अपनी अरहन्तदशा की ऐसी प्रतीति नहीं होती उसे अपने सम्पूर्ण द्रव्य की भी प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्य की प्रतीति हो तो द्रव्य की क्रमबद्धदशा विकसित होकर जो अरहन्तदशा प्रगट होती है, उसकी प्रतीति होती है।

मेरे द्रव्य में से अरहन्तदशा आनेवाली है, उसमें पर का कोई विघ्न नहीं है। कर्म का तीव्र उदय आकर मेरे द्रव्य की शुद्धदशा को रोकने के लिए समर्थ नहीं है; क्योंकि मेरे स्वभाव में कर्म की नास्ति ही है। जो अरहंत की प्रतीति करता है, वह अवश्य अरहन्त होता है।

'जो चैतन्य के लक्षण से रहित हैं – ऐसी समस्त बंधभाव की

वृत्तियाँ मुझसे भिन्न हैं'– इसप्रकार बन्धभाव से भिन्न स्वभाव का निर्णय करने पर चैतन्य को उस बन्धभाव की वृत्तिओं का आधार नहीं रहता; अकेले आत्मा का ही आधार रहता है। अपनी प्रज्ञाशक्ति के द्वारा जिसने बन्धरहित स्वभाव का निर्णय किया, उसे स्वभाव की रुचि, उत्साह और ऐसा उल्लास व प्रमोद आता है कि अहो ! यह चैतन्यस्वभाव स्वयं भवरहित है। मैंने उसका आश्रय किया, इससे अब मेरे भव का अन्त निकट आ गया है। इसप्रकार अपने निर्णय से जो चैतन्यस्वभाव में निःशंकता करे, उसे चैतन्यप्रदेशों में उल्लास होता है और अल्पकाल में मुक्तदशा होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र भव्यजीवों को संबोधन करके समयसार की टीका कलश में कहते हैं – अरे भव्य ! तू तत्त्व का कौतूहली होकर आत्मा का अनुभव कर !

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समोलोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।२३।।

श्री आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से भी अथवा मरकर भी तत्त्व को कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त (दो धड़ी) को पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर – ऐसा करने से तू अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से पृथक् देखकर इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को तुरन्त ही छोड़ देगा।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो ? तथा अनादि कालीन विपरीत मान्यता और पाप कैसे दूर हों ? उसका उपाय बतलाते हुए आचार्यदेव कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई ! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी मरण जितने कष्ट आयें तो भी, वह सब सहन करके तत्त्व का कौतूहली हो।

जिसप्रकार कुएँ में गहरा गोता लगाकर थाह पाते हैं उसीप्रकार ज्ञान से भरे हुए चैतन्य कुएँ में पुरुषार्थरूपी गहरा गोता लगाकर थाह पाओ, दुनिया एकबार तुझे पागल कहेगी। दुनिया की अनेकप्रकार की प्रतिकूलता आये; तथापि उसे सहन करके, उसकी उपेक्षा करके चैतन्य भगवान कैसा है, उसे देखने का एकबार कौतूहल तो कर! यदि दुनिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता में रुकेगा तो अपने चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा; इसलिए दुनिया का लक्ष छोड़कर और उससे पृथक् होकर एकबार महान कष्ट से भी तत्त्व का कौतूहली हो।

आचार्यदेव कहते हैं कि बन्धु! तू चौरासी के कुएँ में पड़ा है, उसमें से पार होने के लिए चाहे जितने परीषह या उपसर्ग आयें, मरण जितने कष्ट आयें; तथापि उनकी दरकार छोड़कर पुण्य-पापरूप विकारभावों का दो धड़ी पड़ौसी हो तो तुझे चैतन्यदल पृथक् मालूम होगा। शरीरादि तथा शुभाशुभभाव यह सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे पृथक् हूँ, पड़ौसी हूँ – इसप्रकार एकबार पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर!

मैं निकटस्थ पदार्थों से पृथक् ज्ञाता-दृष्टा हूँ। शरीर, वाणी, मन सब बाह्य हैं, उन्हें नाटकरूप से देख ! तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अंतरज्योति से ज्ञानभूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है वह मैं नहीं हूँ; परन्तु उसका मात्र ज्ञाता हूँ – ऐसा उसे जान तो सही ! और उसे जानकर उसमें लीन तो हो ! आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होते हैं, उनका आश्चर्य लाकर एकबार पड़ौसी हो।

शरीर, मन, वाणी की क्रिया तथा पुण्य-पाप के परिणाम वे सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ द्वारा पर का स्वामित्व माना है। विकारी भावों की ओर तेरा लक्ष है; वह सब छोड़कर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके एक अन्तर्मुहर्त अर्थात् दो घड़ी पृथक् होकर चैतन्यमूर्ति आत्मा को देख ! चैतन्य की विलासरूप मौज को किंचित् पृथक होकर देख ! उस मौज को अंतर में देखने से शरीरादि के मोह को

तुरन्त ही छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् तुरन्त छोड़ सकेगा। यह बात सरल है; क्योंकि तेरे स्वभाव की है। केवलज्ञान लक्ष्मी को स्वरूपसत्ता भूमि में स्थित होकर देख ! तो पर के साथ के मोह को तुरन्त छोड़ सकेगा।

तीनकाल, तीनलोक की प्रतिकूलता के समूह एक साथ आकर सम्मुख खड़े रहें; तथापि मात्र ज्ञातारूप से रहकर वह सब सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एकसमय की पर्याय में विद्यमान हैं। शरीरादि से भिन्नरूप आत्मा को जाना है,, उसे परीषहों के समूह किंचित् मात्र प्रभावित नही कर सकते।

जिसप्रकार किसी सुकुमार राजकुमार को जमशेदपुर, टाटानगर की अग्नि की भट्टी में में झौंक दिया जाये तो उसे जो दुःख होगा, उससे अनंत गुना दुःख पहले नरक में है और पहले की अपेक्षा दूसरे, तीसरे आदि सातों नरकों में अनन्त-अनन्त गुना अधिक दुःख है; घोर पाप करके वहाँ ऐसे नरक दुःखों की तीव्र, वेदना के गंज में पड़े होने पर भी किसी समय कोई जीव ऐसा विचार को बदलकर स्वसन्मुख वेग होने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था और वर्तमान सम्यक् विचार के बल से सातवें नरक की महातीव्र पीड़ा में पड़ा होने पर भी पीड़ा का लक्ष छूटकर सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा का सच्चा वेदन होता है। सातवें नरक में पड़ हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव को वह नरक पीड़ा असर नहीं करती, क्योंकि उसे भान है कि – मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य को कोई परपदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनंत वेदना में पड़े हुए भी अनन्त जीव आत्मानुभव को प्राप्त हुए हैं, तब फिर सातवें नरक जितना कष्ट तो यहाँ नहीं है ? मनुष्य पाकर क्या रोना रोता रहता है ? अब सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके आत्मानुभव कर ! आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परिषह आने पर भी न डिगे और दो घड़ी स्वरूप में लीन हो तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करे ! जीवन्मुक्तदशा हो, मोक्षदशा

हो। जब आत्मानुभूति का इतना बड़ा लाभ है तो फिर मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो क्या बड़ी बात है ? यह तो सुगम है।

सबसे बड़ा पाप, सबसे बड़ा पुण्य और धर्म का मूल

प्रश्न :– जगत में सबसे बड़ा पाप कौनसा है ?

उत्तर :– मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रश्न :– मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप क्यों कहा है ?

उत्तर :– मिथ्यात्व का अर्थ है तत्त्वों की विपरीत मान्यता; अयथार्थ समझ। जो यह मानता है कि जीव पर का कुछ कर सकता है और पुण्य से धर्म होता है; उसकी उस विपरीत मान्यता से प्रतिक्षण अनन्त पापबंध होता है।

प्रश्न :– सबसे बड़ा पुण्य कौनसा है ?

उत्तर :– तीर्थंकर नामकर्म सबसे बड़ा पुण्य है। यह पुण्य सम्यग्दर्शन के बाद की भूमिका में हुये शुभराग के द्वारा बँधता है। मिथ्यादृष्टि को यह पुण्यलाभ नहीं होता।

प्रश्न :– धर्म का मूल कारण क्या है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र, तप इत्यादि कोई भी धर्म सच्चा नहीं होता। ये सब धर्म सम्यग्दर्शन होने के बाद ही यथार्थ होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है।

मिथ्यात्वी जीव मानता है कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ कर सकता है अर्थात् दूसरे जीव मेरा कार्य कर सकते हैं और मैं दूसरे जीवों का कार्य कर सकता हूँ। इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि जगत के सभी जीव परमुखापेक्षी हैं और पराधीन हैं। इसप्रकार उसने अपनी विपरीतमान्यता से जगत के सभी जीवों के स्वाधीन स्वभाव की हिंसा की है,इसलिये मिथ्यामान्यता ही महान हिंसक भाव है और यही सबसे बड़ा पाप है।

श्री परमात्मप्रकाश में कहा है कि – सम्यक्त्व सहित नरकवास भी अच्छा है और मिथ्यात्व सहित स्वर्गवास भी बुरा है। इसके निश्चय हुआ है कि जिस भाव से नरक मिलता है; उस अशुभ भाव से भी मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है; यह समझकर जीवों को सर्वप्रथम यथार्थ समझ के द्वारा मिथ्यात्व के महापाप को दूर करने का उपाय करना चाहिये।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि – तीन काल व तीन लोक में सम्यक्त्व के समान अन्य कोई धर्म नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अन्य पाप नहीं है।

हे जीव ! तू कौन है ? इसका कभी विचार किया ? तेरा स्थान कौनसा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है तुझे ? विचार तो कर कि तू इस समय कहाँ है और यह सब क्या हो रहा है, तुझे शांति क्यों नहीं मिल रही है ?

प्रभु ! वस्तुतः तू सिद्ध है, स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है; किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है, इसीलिये तुझे शांति नहीं है। भाई, वास्तव में तू निज घर भूला है, सन्मार्ग भूल गया है। दूसरे के घर को तू अपना निवास मान बैठा है; किन्तु ऐसे अशांति का अन्त नहीं होगा।

भगवान ! शांति तो तेरे अपने घर में ही भरी हुई है। भाई ! एक बार सब ओर से अपना लक्ष्य हटाकर निज घर में तो देख। तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु, तू अपने निज घर में देख ! पर में मत देख ! पर में लक्ष्य कर-करके तो तू अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अन्तर-स्वरूप की ओर दृष्टि तो डाल। एकबार तो भीतर देख। भीतर परम आनन्द का अनन्त भण्डार भरा हुआ है, उसे तनिक सम्हाल तो। एकबार भीतर को झांक, तुझे अपने स्वभाव का कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा।

अनन्त ज्ञानियों ने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु ! तू अपने प्रभुत्व को एकबार 'हाँ' तो कहा।

प्रश्न :– परम सत्य सुनने पर भी समझ में क्यों नहीं आता?

उत्तर :– "मैं लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकता" ऐसी दृष्टि ही उसे समझने में अयोग्य रखती है। सत् के एक शब्द का भी यदि अंतर से सर्वप्रथम 'हकार' आया तो वह भविष्य में मुक्ति का कारण हो जाता है।

ज्ञानी कहते हैं कि "सभी जीव सिद्ध समान हैं और तू भी सिद्ध समान है, भूल वर्तमान एकसमयमात्र की है, इसे तू समझ सकेगा" तब भी अज्ञानी यह कहता है, 'मैं इस लायक नहीं' हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकूंगा। बस, इसीकारण उनकी समझ में नहीं आता।

भूल स्वभाव में नहीं है, केवल एकसमय की पर्याय में है। वह भूल दूसरे समय में नहीं रहती। हाँ, यदि वह स्वयं दूसरे समय में नई भूल करे तो बात दूसरी है। शरीर अनन्त परमाणुओं का समूह है और आत्मा चैतन्यमूर्ति है। दोनों के बीच वज्र की दीवाल जैसा अत्यन्ताभाव खड़ा है। भला, इसका शरीर के साथ क्या सम्बन्ध ? जैनधर्म का यह त्रिकालाबाधित कथन है कि – "एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता।" इसे न मानकर मेरे से पर की अवस्था हुई अथवा हो सकती है" – यों मानता है, यही अज्ञान है। जहाँ जैन की कथनी को भी नहीं मानता वहाँ जैनधर्म को कहाँ से समझेगा ? यह आत्मा यदि पर का कुछ कर सकता होता तो पर का कुछ न करने का अथवा पर के त्याग करने का प्रश्न आता!

विकार पर में नहीं, किन्तु अपनी एकसमय की पर्याय में है। यदि दूसरे समय में नया विकार करे तो वह होता है। 'राग का त्याग करूँ' – ऐसी मान्यता भी नास्ति से है, अस्तिस्वरूप शुद्धात्मा के भान के बिना राग की नास्ति कौन करेगा ? परवस्तु के त्याग का कर्तृत्व व्यर्थ ही मान रखा है, उसी मान्यता का त्याग करना है।

प्रश्न :– यदि सत्य समझ में आ जाये तो बाह्य वर्तन में कोई फर्क दिखाई ही न दे अथवा लोगों के ऊपर उसके ज्ञान की छाप न पड़े ?

उत्तर :– एक द्रव्य की छाप दूसरे द्रव्य पर कभी तीन लोक और तीन काल में पड़ती ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। यदि एक की छाप दूसरे पर पड़ती होती तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान की छाप अभव्य जीव पर क्यों नहीं पड़ती ? जब जीव स्वयं अपने द्वारा ज्ञान करके अपनी पहिचान की छाप अपने ऊपर डालता है, तब निमित्त में मात्र आरोप किया जाता है। बाहर से ज्ञानी पहिचाना नहीं जा सकता; क्योंकि यह हो सकता है कि ज्ञानी होने पर भी बाह्य में हजारों स्त्रियां हों और अज्ञानी के बाह्य में कुछ भी न हो। ज्ञानी को पहिचानने के लिये यदि तत्त्वदृष्टि हो तो ही वह पहिचाना जा सकता है। ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर बाह्य में कोई फर्क दिखाई दे या न दे; किन्तु अन्तर्दृष्टि में फ़र्क पड़ ही जाता है।

सत् की बात सुनते ही एक कहता है कि मुझे अभी ही यह सत् का स्वरूप बताइये, यों कहनेवाला सत् का हकार करके सुनता है, अतः समझने के योग्य है और दूसरा कहता है कि अभी यह मेरी समझ में नहीं आ सकता। ऐसा कहनेवाले को सुनने का उत्साह नहीं है, वह सत् के नकार से सुनता है, इसलिये वह समझ नहीं सकता।

समयसार की पहली गाथा में यों स्थापित किया गया है कि मैं और तू दोनों सिद्ध हैं। इसके सुनते ही सबसे पहली आवाज में यदि हकार हो गई तो उसकी अल्पकाल में मुक्ति हो जायगी और यदि उसके बीच में नकार आ गई तो उससे मुक्ति दूर हो जायेगी।

प्रश्न :– यदि सत्समागम हो तो उसका लाभ तो होता है न?

उत्तर :– बिल्कुल नहीं, किसी का असर पर के ऊपर हो ही नहीं सकता। सत्समागम भी पर है। पर की छाप तीन काल और तीन लोक में अपने ऊपर नहीं पड़ सकती।

अहो ! यह परम सत्य सुनने को मिलना भी दुर्लभ है। सच्ची समझ के लिये सर्वप्रथम सत् का हकार आना चाहिये।

यह जो कहा गया है सो त्रिकाल परम सत्य है। तीन काल और

तीन लोक में यदि सत् चाहिये हो तो जगत को यह मानना ही पढ़ेगा। सत् में परिवर्तन नहीं होता, सत् को समझने के लिये तुझे ही बदलना होगा। सिद्ध होने के लिये सिद्धस्वरूप का हकार होना चाहिये।

भगवान ने कहा है कि – 'तेरे स्वभाव में भव का अभाव है, स्वभाव में भव नहीं है', फिर भी यदि तुझे भव की शंका हो गई तो तूने भगवान की वाणी को अथवा अपने भवरहित स्वभाव को माना ही नहीं है। जिसका वीर्य अभी भवरहित स्वभाव की श्रद्धा में निःसंदेह प्रवर्तित नहीं हो सकता, जिसके अभी यह शंका मौजूद है कि मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ ? उसका वीर्य वीतराग की वाणी को कैसे निर्णय कर सकेगा ? और वीतराग की वाणी के निर्णय के बिना उसे अपने स्वभाव की पहचान कैसे होगी ? इसलिये पहले भवरहित स्वभाव की निःशंकता को लाओ।

धर्मी का वात्सल्यभावधर्म यानी स्वभाव और उसे धारण करनेवाला धर्मी यानी आत्मा ! इसलिये जिसे धर्मात्मा के प्रति अरुचि है उसे धर्म के प्रति अरुचि है। जिसे धर्म की अरुचि हुई उसे आत्मा की अरुचि हुई और आत्मा की अरुचिपूर्वक जो क्रोध, मान, माया, लोभ होता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ आदि होता है। इसलिये जो धर्मात्मा का अनादर करता है वह अनन्तानुबंधी राग-द्वेष वाला है, और उसका फल अनन्त संसार है।

जिसे धर्मरुचि है, उसे परिपूर्ण स्वभाव की रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा अनादर या ईर्ष्या नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाय तो उसे खेद नहीं होगा, किंतु अंतर से प्रमोद जागृत होगा। उसे ऐसा भाव आयेगा कि अहो ! धन्य है इस धर्मात्मा को ! जो मुझे इष्ट है, वह इसने प्रगट कर लिया है। इसप्रकार अन्य जीवों की धर्म वृद्धि देखकर धर्मात्मा को हर्ष होता है। □

मोक्षमार्ग में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्थान

प्रश्न :– 'आत्मा प्रिय हुआ' यह कब कहा जा सकता है ? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा हो गये हैं, उन अरहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति हो तथा विषय-कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग है वह दूर हो एवं सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए तीव्र उत्साह हो, अन्यथा रागरहित आत्म-स्वरूप की श्रद्धा कहाँ से पा सकेंगे ?

जिसमें परम उपकारी वीतरागी देव-गुरु-धर्म के लिए भी अशुभ राग कम करने की भावना नहीं है, वह अपने आत्मा के लिए राग का बिल्कुल अभाव कैसे कर सकेगा ? जिसमें दो पैसे देने की शक्ति नहीं है, वह दो लाख रुपया कहाँ से दे सकेगा ? उसीप्रकार जिसे देव-गुरु की सच्ची प्रीति नहीं है – व्यवहार में भी अभी जो विषयानुराग कम नहीं कर सकता, वह निश्चय में यह श्रद्धा कैसे और कहाँ से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप नहीं है।'

जिसे सच्चे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सम्यग्दर्शन सच्चा नहीं है।

प्राथमिक दशा में सच्चे देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जागृत होता है और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिये संपूर्णतया अर्पित हो जाऊँ, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूं तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये बिना देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती। और सच्चे वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु व अनेकान्तमय धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता के आये बिना तीन लोक और तीनकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के

लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार सच्चे देव-गुरु चरणों में अर्पित हो जा ! पश्चात् वे निर्ग्रन्थ गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एकबार तो तू सत् की शरण में झुक जा, और यही स्वीकार कर कि – उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना ! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यकता नहीं है, तू स्वयं ही अपनी ओर देख; यही धर्म है।

गुरु कहेंगे कि – यदि देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय मानकर बैठ जाय तो भी पराश्रय होने के कारण आत्मा का उद्धार नहीं होगा। इसप्रकार परमार्थ स्वरूप में तो भगवान आत्मा अकेला ही है; परन्तु जबतक वह परमार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तबतक पहले देव-गुरु-शास्त्र को स्वत्वरूप के आँगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना केवल निश्चय की बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

देव-गुरु-धर्म को हमारी भक्ति की आवश्यकता नहीं है, किंतु हम जैसे जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिये सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। यद्यपि ज्ञानी-गुरु भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये बिना आत्मार्थी जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। सत् के जिज्ञासु जीवों को सत् के निमित्तरूप देव-गुरु-धर्म की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो ! अभी तक तो असंग चैतन्यज्योति आत्मा की बात ही नहीं सुनी और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से भी अलग रहा। इतना समय बीत गया। इसप्रकार जिज्ञासु जीवों को पहले की भूल का पश्चाताप होता है और वर्तमान में उल्लास जागृत होता है। किन्तु फिर भी यह ध्यान रहे कि देव-गुरु-शास्त्र का राग आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो शुभराग उत्पन्न होता है और फिर 'यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है' इसप्रकार

स्वभावदृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

सच पूछा जाय तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ और उनका कहा हुआ वस्तुस्वरूप सुना या पढ़ा तक नहीं। अन्यथा देव-गुरु-शास्त्र तो यह कहते हैं कि – 'तुझे हमारा आश्रय नहीं है, तू स्वतंत्र है।' यदि देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव-गुरु-शास्त्र के चरण में तन-मन-धन समर्पण किये बिना जिसमें सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा?

अहो! जगत को वस्त्र, मकान, धन आदि में बड़प्पन मालूम होता है; परन्तु जो जगत का कल्याण कर रहे हैं – ऐसे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति, समर्पणभाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धार की कल्पना भी कैसी?

प्रश्न :– आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है। फिर भी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग करने के लिये क्यों कहते हैं?

उत्तर :– जैसे किसी म्लेच्छ को मांस छुड़ाने का उपदेश देने के लिये म्लेच्छभाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है, किंतु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसीप्रकार अशुभराग छुड़ाने के लिये उसे अशुभराग से हटाकर देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जाता है। वहाँ शुभराग कराने का हेतु नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण राग छुड़ाने का हेतु है। जिसका जितना राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजनवान है, जो राग शेष रहता है, वह रहे यहाँ यह प्रयोजन नहीं है।)

उसके बाद 'देव-गुरु-शास्त्र का शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है'– इसप्रकार सम्पूर्ण राग का निषेध करके वीतरागस्वरूप की श्रद्धा करने लगता है।

भाई! पहले जिन्होंने प्रभुता प्रगट की है – ऐसे देव-गुरु की भक्ति बड़प्पन न आवे और जबतक जगत का बड़प्पन दिखाई दे तबतक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा तो जीव

अनन्तबार कर चुका; परन्तु इस आत्मा की श्रद्धा अनन्तकाल से नहीं की है – परमार्थ को नहीं समझा है। शुभ राग में अटक गया है। अतः यदा-कदा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को गौण आत्मश्रद्धान का उपदेश दिया है।

सम्यग्दृष्टि का अन्तरपरिणमन कैसा होता है, इसका चित्रण कविवर दौलतरामजी ने निम्न शब्दों में किया है –

चिन्मूरत दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी।।टेक।।
बाहिर नारकिकृत दुख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनिसंग पैतिसपरनतितैं नित हटाहटी।। चि०।।
ज्ञान विराग शक्ति तैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी।। चि०।।
जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारकपशुतिय षँड विकलत्रय, प्रकृतिनिकी ह्वैकटाकटी।। चि०।।
संयम धर न सकै पै संयम-धारन की उर चटाचटी।
तासु सुयश गुन की 'दौलत' को लगी रहे नित रटारटी।। चि०।।

अनागार धर्मामृत में कहा है कि –

"सम्यक्त्व वास्तव में प्रभु है, इससे वह परम आराध्य है; क्योंकि उसी के प्रसाद से सिद्धि प्राप्त होती है और उसी के निमित्त से मनुष्य का ऐसा माहात्म्य प्रगट होता है कि जिससे वह जीव जगत पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ होकर समस्त जगत को जानता है। सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि उससे समस्त सुखों की प्राप्ति होती है।

अधिक क्या कहा जाये ! भूतकाल में जितने नरपुंगव सिद्ध हुये हैं और भविष्य में होंगे वह सब इस सम्यक्त्व का ही प्रताप है !"

प्रश्न :– जिज्ञासु को सम्यग्दर्शनरूप धर्म कैसे करना चाहिये ?

उत्तर :– जो जीव जिज्ञासु होकर वस्तु स्वभाव को समझने के लिये आया है वह वस्तुतः सुख प्राप्त करने को और दुःख दूर करने को आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमान में जो दुःख है, विभाव है;

क्षणिक है, इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःखरूप अवस्था को दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्था को प्रगट कर सकता है। जो सत् को समझने के लिये आया है, उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि "आत्मा को पुरुषार्थ करके विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिये। वर्तमान विकार होने पर भी विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है।"

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिये शास्त्रों ने सर्वप्रथम ज्ञानक्रिया बताई है। श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का आदर और उस ओर का खिंचाव तो दूर हो ही जाना चाहिये तथा विषयादि परवस्तु में जो सुखबुद्धि है वह भी दूर हो जाना चाहिये। सब ओर से विषयों की रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिये। सच्चेदेव, गुरु, और शास्त्र को यथार्थ रीति से पहिचानकर उनका आदर करे यदि यह सब स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो ही सम्यग्दर्शन की पात्रता कही जा सकती है; किन्तु यह भी ध्यान रहे कि मात्र इतनी पात्रता भी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण तो चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करना है। परन्तु पहले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत्समागम का प्रेम तो पात्र जीवों के होता ही है – ऐसे पात्र जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिये क्या करना चाहिये ? यह इस समयसार में स्पष्टतया बतलाया है।

समयसार की १४४ वीं गाथा की टीका में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय बताते हुये कहा है कि –

"पहले श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रियों के और मन के द्वारा प्रर्वतमान बुद्धि है, उसे मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है

ऐसा तथा नानाप्रकार के पक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्म-सन्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्प रहित होकर तत्काल परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।"

तात्पर्य यह है कि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को कहा है। यहाँ सर्वप्रथम श्रुतज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हैं – सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति के द्वारा वस्तुस्वरूप सिद्ध करता है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु को 'स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है' इसप्रकार स्वतंत्र सिद्ध करता है बस यह श्रुतज्ञान है।

परवस्तु को छोड़ने के लिये कहे अथवा पर के ऊपर हुए राग को कम करने के लिये कहे – यह अनेकांत या श्रुतज्ञान का कार्य नहीं है; यह तो चारित्र का कार्य है। बात जरा सूक्ष्म है यहाँ ज्ञान-चारित्र के कार्य में विभाजन रेखा खींची है। **एक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और यह वस्तु अनन्त परद्रव्यों से पृथक् है, इसप्रकार आस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूप को बतलाता है, वह अनेकांत है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है।** वस्तु स्व–अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है, इससे वस्तु को स्वतःसिद्ध ध्रुवरूप में सिद्ध किया है।

अनेकान्त एक वस्तु में अस्ति और नास्ति से 'है' और 'नहीं है' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों की भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु का भिन्नस्वरूप बताती हैं। इसप्रकार अनन्त परवस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य-पर्याय में यह देखना चाहिये कि मेरा त्रिकाली द्रव्य एक समयमात्र की अवस्थारूप नहीं है

तथा विकार क्षणिक पर्याय के रूप में है, त्रिकाली नहीं है। इसप्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकान्त से होती है; भगवान के द्वारा कहे गये सत् शास्त्रों की महत्ता अनेकान्त से ही है।

भगवान ने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरे का कुछ भी नहीं किया; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने रूप में है और पररूप में नहीं है; इसलिये वह किसी अन्य का कुछ नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, इसप्रकार जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, यही श्रुतज्ञान है।

कोई परद्रव्य की प्रभावना या अप्रभावना नहीं कर सकता आत्मा का जो वीतरागस्वभाव है, उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते हैं; आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की प्रभावना किसप्रकार करे? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं; क्योंकि दूसरे के लिये अपने में कुछ भी नहीं होता है – जैनशासन वस्तु को स्वतंत्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है। पर में कुछ करे – ऐसी बात जैन की सीमा में ही नहीं है।

यह जीव परजीव की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान परजीव को बचाने के लिये क्यों कहेंगे ? भगवान ने तो आत्मस्वभाव को पहचानकर अपने आत्मा को कषायभाव से बचाने को कहा है। यही सच्ची दया है, यथार्थ में पर की दया तो संभव ही नहीं है; क्योंकि पर को कोई मार या बचा ही नहीं सकता, हाँ मारने व बचाने का भाव कर सकता है, जिससे पाप-पुण्य बंधता है। भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है। प्रत्येक तत्त्व या प्राणी अपने आप स्वतंत्र है। किसी तत्त्व या जीव को दूसरे तत्त्व या जीव का आश्रय नहीं है। इसप्रकार वस्तु के स्वरूप को पृथक् स्वतंत्र रखना अहिंसा है और एक-दूसरे का कुछ कर सकता है, इसप्रकार वस्तु को पराधीन मानना हिंसा है।

जगत के जीवों को सुख चाहिये। सुख कहो, शान्ति कहो या धर्म

कहो, सब एक ही बात है। धर्म करना है आत्मशांति चाहिये का अर्थ यह है कि आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतराग आनन्द प्रगट करना है। यह आनन्द स्वाधीन हो। इसके लिये पर का अवलम्बन न हो; ऐसा आनन्द प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ। निज को अभी वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ; क्योंकि यदि अपने को वैसा आनन्द प्रगट हो तो प्रगट करने की उसे भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी निज को वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ; किन्तु अपने में जैसी भावना है, वैसा आनन्द अन्य किसी को प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्त से स्वयं वह आनन्द प्रगट करने का यथार्थ मार्ग जानता है। इसमें सच्चे निमित्तों की पहचान भी आ गई।

अपनी अवस्था में अधर्म-अशांति है, उसे दूर करके धर्म-शांति प्रगट करना है; वह शांति स्वाधीन और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो, वह पहले यह निश्चय करे कि मैं एक आत्मा हूँ और अपनी पर्याय में परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ। जबतक परिपूर्ण सुख-आनन्द प्रगट न हो, तबतक जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट हुआ है, उसके निमित्त से यह जानना चाहिए कि इन्होंने अपने में ऐसा परिपूर्ण सुख कैसे प्रगट किया है ?

दुःख का मूल तत्त्व की भूल है; अपनी इस भूल से हमने दुःख उत्पन्न किया है। यदि वह अपनी भूल को दूर कर दे तो हमारा दुःख दूर हो जाय। अन्य किसी ने वह भूल नहीं कराई है, इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

प्रश्न :– जो आत्मकल्याण करने के लिये तैयार हुआ है, ऐसे जिज्ञासु को पहले क्या करना चाहिये ?

उत्तर :– अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट

हुआ है, वे सर्वज्ञदेव कौन हैं ? वे क्या कहते हैं ? उन्होंने पहले क्या किया था ? इसका अपने ज्ञान में निर्णय करना होगा अर्थात् सर्वज्ञ के स्वरूप को जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से अपने आत्मा का निर्णय करना, यही प्रथम कर्त्तव्य है। यद्यपि किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगट नहीं होता; तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब सामने निमित्त के रूप में सच्चेदेव और गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि जो पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पूर्ण पुरुष पूर्ण सुख का सत्यमार्ग कह सकता है। इसे स्वयं समझकर ही अपने पूर्ण सुख को प्रगट किया जा सकता है। जब स्वयं यह सब समझता है, तब उसमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं। जिसे स्त्री-पुत्र-पैसा इत्यादि की तीव्र रुचि होगी, उसे धर्म के निमित्त देव-शास्त्र-गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी। उसके श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं होगा और श्रुतज्ञान के अवलंबन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता; क्योंकि आत्मा के निर्णय में सर्वज्ञ ही निमित्त होते हैं; परन्तु कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि की आराधना करता है, उन्हें पूज्य मानता है, उसके आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता।

आत्मार्थी को यह तो समझ ही लेना चाहिए कि दूसरे की सेवा करने से धर्म नहीं होता, किन्तु यथार्थ धर्म प्रगट करने के लिये पहले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्र के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये उद्यमी होना चाहिए। जगत् धर्म की कला को समझ ही नहीं पाया, यदि धर्म की एक भी कला को सीख ले तो उसे मोक्ष हुये बिना न रहे।

धर्म का जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है और उसे सच्चे देव-गुरु की ऐसी लगन लगती है कि उसका लक्ष्य यही समझने की ओर रहता है कि

पूर्ण पुरुष क्या कहते हैं ? इसलिये अशुभ से तो वह हट ही जाता है। यदि सांसारिक रुचि से कोई ऐसा करे तो वह श्रुत के अवलम्बन में टिक नहीं सकता।

प्रश्न :– धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

उत्तर :– भाई ! धर्म अपना स्वभाव है, धर्म स्वाधीन है, वह पराधीन नहीं है, किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता, धर्म किसी के देने से नहीं मिलता; किन्तु आत्मा की पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिये, उसे पूर्ण आनन्द का स्वरूप क्या है, वह किसे प्रगट हुआ है? पहले यह निश्चय करना चाहिये। कई आत्मा वैसी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्ददशा में ज्ञान भी पूर्ण प्रगट हुआ है; क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो राग-द्वेष रहें और राग-द्वेष रहें तो दुःख रहे। जहाँ दुःख होता है, वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता; इसलिये जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है – ऐसे सर्वज्ञ भगवान का निर्णय करना चाहिये। इसलिये कहा है कि – पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करना चाहिये, इसमें उपादान-निमित्त की संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है ? सत्य बात कौन कहता है ? यह सब निश्चय करने के लिये थोड़ी निवृत्ति लेनी चाहिये। यदि स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न हो तो सत्समागम के लिये समय नहीं मिल पाता। जहाँ श्रुत का अवलम्बन लेने की बात कही गई है, वहाँ तीव्र अशुभभाव के त्याग की बात अपने आप आ गई और सच्चे निमित्तों की पहिचान करने की बात भी आ गई है।

यदि सचमुच तुझे सुख चाहिये हो तो पहले ज्ञान कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है ? इसका ज्ञान हुये बिना प्रयत्न करते-करते सुख चाहे तो भी सुख नहीं मिलता, धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से यह निर्णय होता है और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है। जिसे ऐसा धर्म प्राप्त करना हो वह पहले धर्मी की पहचान करे। वे क्या कहते हैं – इसका निर्णय

की प्रीति को गौण कर देता है।

प्रश्न :– क्या सत् की प्रीति होने पर खाना–पीना और धन्धा–व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिये ? क्या श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिये ?

उत्तर :– सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना-पीना आदि सब छूट ही जाता हो सो बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र एक आत्मा ही सर्वोपरि रहे तो स्वतः आत्मा की ही चाह होगी, मात्र श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिये ऐसा भी नहीं कहा; किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिये। श्रुत के अवलम्बन की धुन लगने पर देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार इत्यादि अनेक पहलुओं की बातें स्वतः आती हैं, उन सब पहलुओं को जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये। इसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं ? इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तू ज्ञान के सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

इसमें यह बताया गया है कि देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं ? और उन देव-शास्त्र-गुरु को पहचानकर उनका अवलम्बन लेनेवाला स्वयं क्या समझा होता है। तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, जानना ही तेरा स्वभाव है। किसी पर का कुछ करना अथवा पुण्य-पाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं और इसप्रकार जो समझता है, उसी ने देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से श्रुतज्ञान को समझा है; किन्तु जो राग से धर्म मनवाते हों और शरीराश्रित क्रिया आत्मा करता है – यह मनवाते हों तथा जो यह कहते हों कि जड़कर्म आत्मा को परेशान करते हैं, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हो सकते।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पाप का भाव आत्मा का स्वभाव

नहीं है, वही सच्चे शास्त्र हैं, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य से धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते हैं कि शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा है तथा जो राग से धर्म होना बतलाते हैं, वे सब कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र हैं; क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीतस्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न बताये और किंचित् मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सच्चा देव, सच्चा शास्त्र या सच्चा गुरु नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल आत्मानुभव है –

'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं।' – इसप्रकार आत्मा या पहले विकल्प के द्वारा देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करता है। ज्ञानस्वभाव का अनुभव होने से पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष से श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह अल्पकाल में ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्प में यह निश्चय किया जाता है कि 'मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मुझे शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाववाला हूँ।' – इसप्रकार जिसने निर्णय किया उसे अनुभव हुये बिना कदापि नहीं रह सकता।

'पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ।'– इसप्रकार जो निर्णय पूर्वक ऐसा स्वीकार करता है,उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाता है, उसे पुण्य-पाप के प्रति आदर नहीं रहता; इसलिये वह अल्पकाल में ही पुण्य-पाप रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जाता है। यहाँ पूर्णता की ही बात है। वस्तुतः प्रारम्भ और पूर्णता के बीच कोई भेद ही नहीं है। जो प्रारम्भ हुआ है, वह पूर्णता को लक्ष में लेकर ही हुआ है! जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं, वे देव-शास्त्र-गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलम्बन से जिनने ऐसा स्वीकार

में न आये। समझने में विलम्ब हो तो वहाँ समझने के लक्ष से अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करने से इन्कार नहीं है; परन्तु यह जान लेना चाहिये कि शुभभाव से धर्म नहीं होता। जबतक किसी भी जड़वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया को जीव अपनी मानता है, तबतक वह यथार्थ समझ मार्ग पर नहीं है।

सुख का मार्ग सच्ची समझ और विकार का फल जड़ है

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिये बिना न रहे। सत्य चाहिये हो, सुख चाहिये हो तो यही मार्ग है। समझ में भले विलम्ब हो जाये; किन्तु मार्ग तो सच्ची समझ का ही लेना चाहिये न? सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आये बिना न रहे। यदि ऐसे मनुष्य शरीर में और सत्समागम के योग से भी सत्य समझ में न आये तो फिर सत्य का ऐसा सुयोग नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि 'मैं कौन हूँ', वह जहाँ जायेगा अशान्ति ही पायेगा, शांति कहाँ से लायेगा? आत्मा की प्रतीति के बिना कदाचित् शुभभाव किये हों तो भी उस शुभ का फल जड़ में जाता है। आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता। जिसने आत्मा की परवाह नहीं की, उसने यदि शुभभाव किये भी तो पुण्य के रजकणों का ही बन्ध हुआ और उन रजकणों के फल में भी उसे भोगसामग्री (रजकणों) का ही संयोग मिलेगा। रजकणों का संयोग मिला तो उसमें आत्महित के लिये क्या है? आत्मा की शांति तो आत्मा में ही है न? उसकी परवाह तो की नहीं और मात्र पुण्य की क्रियाओं में ही अटका रहे तो उससे क्या लाभ?

अज्ञानी जड़ का लक्ष्य करके जड़ जैसा हो गया है, अपने को भूलकर संयोग दृष्टि से मरता है, इसलिए चैतन्यस्वरूप की प्रतीति नहीं होती। भले ही शरीर हिले-डुले और बोले, किन्तु यह जड़ की क्रिया है, उसका मालिक बनता है, किन्तु अन्तरंग में साध्य जो ज्ञानस्वरूप है उसकी इसे खबर नहीं है, अतः यह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। वस्तु का स्वभाव यथार्थ स्वरूप दर्शन-ज्ञान है, उसे न समझे

तो जीव को स्वरूप का किंचित्मात्र भी लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से स्वरूप की पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसी को शुद्ध आत्मा प्राप्त होता है और शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। मैं शुद्ध हूँ – ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव रह जाये, बस यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है।

जिसे आत्मा की आवश्यकता हो ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य बताये तो वह असत्य को स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्स्वभाव चाहिए हो वह स्वभाव से विरुद्ध भाव को स्वीकार नहीं करता, उसे अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया और वृत्ति के छूट जाने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही समयसार है और वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म कैसे हो ? धर्म करने के पहले क्या करना चाहिए ? इसके संबंध में यह कथन चल रहा है। □

आत्मा उपशम रस का समुद्र है, अकषाय स्वभाव की मूर्ति है, वीतराग स्वभाव की मूर्ति है। वह किसी काल दया–दानादि रागरूप नहीं हो सकता। इसलिए तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो कि मैं स्वयं महा आनन्द का नाथ हूँ; अनादि से ज्यों की त्यों ज्ञानप्रकाश की मूर्ति हूँ; तू कभी रागरूप हुआ ही नहीं। तू सदा ज्ञानोपयोगरूप ही रहा है। चैतन्यप्रकाशरूप ही सदा रहा है। चैतन्यप्रकाश की जगमग ज्योतिरूप ही रहता हुआ तू कभी राग के अंधकाररूप हुआ ही नहीं। इसलिए सर्वप्रकार से एकबार प्रसन्न हो। राग के अनुभव में पड़ा है उसे छोड़कर चैतन्य–आनन्द के अनुभव में आ जा। अपने आत्मस्वभाव के अवलोकन हेतु एकबार सर्वप्रकार से प्रसन्नतापूर्वक अपने वीर्य को उछाल, तुझे आनन्द का लाभ होगा।

– दव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–153

सच्चा ज्ञान है वहाँ भव की शंका नहीं है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करने के बाद भी शुभभाव आते तो हैं; परन्तु आत्महित ज्ञानस्वभाव का निश्चय करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शुभभाव भी दूर होते जाते हैं। बाह्य लक्ष्य से जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है। आत्मा आंतरिक शांतरस की ही मूर्ति है, उसके लक्ष्य से जो वेदन होता है, वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है; गुण-गुणी से पृथक् नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

आत्मकल्याण का यह छोटे से छोटा उपाय है, अन्य सब उपायों को छोड़कर इसी को प्राप्त करना है। हित का साधन बाह्य में लेशमात्र भी नहीं है। सत्समागम से एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिये। वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा के बिना आंतरिक संवेदन का आनन्द नहीं आता। पहले अन्तरंग से सत् की स्वीकृति आये बिना सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और सत्स्वरूप का ज्ञान हुये बिना भवबन्धन की बेड़ी नहीं टूट सकती और भवबन्धन के अन्त बिना जीवन किस काम का ? भव के अन्त की श्रद्धा के बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद अथवा इन्द्रपद हो सकता है; परन्तु उससे आत्मा को क्या लाभ है ? आत्मा की प्रतीति के बिना यह पुण्य और यह इन्द्रपद सब व्यर्थ ही हैं, उसमें आत्मशांति का अंश भी नहीं है; इसलिये पहले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने पर प्रतीति में भव की शंका ही नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

भाई ! तेरी प्रभुता की महिमा अपरम्पार है ? इसे तूने नहीं जाना। तू अपनी प्रभुता के भान बिना दूसरों के गीत गाता रहा; परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के समक्ष कहे कि हे नाथ ! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो, वहाँ सामने से भी यही प्रतिध्वनि आये कि हे

नाथ ! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो तभी तो आत्मा की सच्ची पहचान होगी।

शुद्ध आत्मस्वरूप का संवेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो - जो भी कहो ये सब आत्मानुभव के ही विविध नाम हैं। अधिक क्या कहा जाये ? जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसी को भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समा जाते हैं। समाधि मरण आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता के ही हैं। इसप्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है।

बाह्य में परद्रव्य का त्याग तो अनन्त बार हुआ; परन्तु उसका फल आत्मा को नहीं मिला। 'मैंने इस परद्रव्य को छोड़ा' यदि यह माने तो परद्रव्य की कर्तृत्वबुद्धि की मिथ्यामान्यता का महापाप होता है और उसका फल संसार ही है। यदि कदाचित् कोई जीव बाहर से त्यागी न दिखाई दे; परन्तु यदि उसने सच्ची समझ के द्वारा अन्तरंग में परद्रव्य की कर्तृत्व बुद्धि का अनंतपाप त्याग दिया हो तो वह धर्मी है और उसके उस त्याग का फल मोक्ष है। मिथ्यात्व का त्यागी ही सच्चा त्यागी है। मिथ्यात्व का त्याग न होने से संसार में परिभ्रमण करता है और मिथ्यात्व का त्याग होने से अल्पकाल में मोक्ष पा लेता है।

यद्यपि त्याग का फल मोक्ष है और अत्याग का फल संसार है; किन्तु सर्वप्रथम मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिये। मिथ्यात्व के त्याग बिना अन्य सभी त्याग निष्फल हैं। आत्मा परवस्तु का ग्रहण अथवा त्याग तो कर ही नहीं सकता। फिर परवस्तु के त्याग का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है। बाह्य में जो परद्रव्य का त्याग हुआ, उसका फल आत्मा का नहीं है। पहले यथार्थ ज्ञान के द्वारा परद्रव्य में कर्तृत्व की बुद्धि को छोड़कर उस समझ में ही अनंत परद्रव्य के स्वामित्व का त्याग

सम्यक्त्व की महिमा

ज्ञान-चारित्र और तप इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली यहाँ सम्यक् श्रद्धा की आराधना प्रधान है। शेष तीन आराधनाएँ एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधक भाव से वर्तती हैं। इसप्रकार हे भव्यों ! तुम सम्यक्त्व की अकथ्य, अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याण मूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनन्तानन्त दुःखरूप अनादि संसार की सम्पूर्ण निवृत्ति के अर्थ भक्तिपूर्वक अंगीकार करो !

द्रव्य दृष्टि की महिमा बताने के लिए सम्यग्दर्शन की महिमा की है। इसी अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कह दिया है। समयसार गाथा १९३ में स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिन इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्य का उपभोग करता है वह सब निर्जरा का निमित्त है और इसी के मोक्ष अधिकार में छट्टे गुणस्थान में मुनि के जो प्रतिक्रमणादि की शुभवृत्ति उद्भूत होती है उसे विषकुम्भ भी कहा है।

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि की अशुभ भावना को निर्जरा का कारण और मुनि की शुभभावना को विषकुम्भ कहा है। इसका समन्वय कैसे किया है ?

उत्तर :– जहाँ सम्यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का कारण कहा है, वहाँ कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि भोग अच्छे हैं; किन्तु वहाँ दृष्टि की महिमा बताई है। अबन्ध स्वभाव की दृष्टि का बल बन्ध को स्वीकार नहीं करता उसकी महिमा बताई गई है अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से वह बात कही है। जहाँ मुनि की व्रतादि की शुभभावना को विषकुम्भ कहा है, वहाँ चारित्र की अपेक्षा से कथन है। वहाँ कहा है कि हे मुनि ! तूने शुद्धात्मचारित्र अंगीकार किया है, परम केवलज्ञान की उत्कृष्ट साधकदशा प्राप्त की है और अब जो व्रतादि की वृत्ति उत्पन्न होती है वह तेरे शुद्धात्म चारित्र को और केवलज्ञान को रोकनेवाली है; इसलिए वह विषकुम्भ है।

सम्यग्दृष्टि के स्वभावदृष्टि का जो बल है, वह निर्जरा का कारण है और वह दृष्टि में बन्ध को अपना स्वरूप नहीं मानता, स्वयं राग का कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे अबन्ध कहा है; परन्तु चारित्र की अपेक्षा से तो उसके बन्धन है। यदि भोग से निर्जरा होती हो तो अधिक भोग से अधिक निर्जरा होनी चाहिए; किन्तु ऐसा तो नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के जो रागवृत्ति उत्पन्न है उसे दृष्टि की अपेक्षा से वह अपनी नहीं मानता। ज्ञान की अपेक्षा से वह यह जानता है कि अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग होता है और चारित्र की अपेक्षा से वह उस राग को विषरूप मानता है। इसप्रकार दर्शन और चारित्र में से जब दर्शन की मुख्यता से बात चल रही हो तब सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा जाता है। स्वभावदृष्टि के बल से प्रतिसमय उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है अर्थात् वह प्रतिक्षण मुक्त ही हो जाता है। जो राग होता है उसे जनता तो है, किन्तु स्वभाव में उसे अस्तिरूप नहीं मानता और इस मान्यता के बल पर ही राग का सर्वथा अभाव करता है। इसलिए सच्ची दृष्टि की अपार महिमा है।

सच्ची श्रद्धा होने पर भी जो राग होता है, वह राग चारित्र को हानि पहुँचाता है; परन्तु सच्ची श्रद्धा को हानि नहीं पहुँचाता; इसलिए श्रद्धा की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है वह बंध का कारण नहीं, किन्तु निर्जरा का ही कारण है – ऐसा कहा जाता है। किन्तु श्रद्धा के साथ चारित्र की अपेक्षा को नहीं भूलना चाहिए।

चारित्र की अपेक्षा से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की शुभवृत्ति को भी विषकुम्भ कहा है, तब फिर सम्यग्दृष्टि के भोग के अशुभभावों की तो बात ही क्या है? अरे! परम शुद्ध स्वभाव के भान में मुनि की शुभ वृत्ति को भी जो विष मानता है वह अशुभभाव को क्योंकर भला मान सकता है? जो स्वभाव के भान में शुभवृत्ति को विष मानता है वह जीव तो स्वभाव के बल से शुभवृत्ति को भी तोड़कर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। वह अशुभ को आदरणीय कैसे मानेगा?

सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा की अपेक्षा से तो अपने को सम्पूर्ण परमात्मा ही मानते हैं; तथापि चारित्र की अपेक्षा से अपूर्ण पर्याय होने से तृणतुल्य तुच्छ मानते हैं। वह यह जानता है कि अभी अनन्त अपूर्णता विद्यमान है, स्वभाव की स्थिरता के प्रयत्न से उसे स्वभाव में ढालना चाहता है। ज्ञानी की अपेक्षा से जितना राग है, उसका सम्यग्दृष्टि ज्ञाता है; किन्तु राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता और ज्यों-ज्यों पर्याय की शुद्धता बढ़ाने पर राग दूर होता जाता है त्यों-त्यों उसका ज्ञान करता है। इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की अपेक्षा से इस स्वरूप को समझना चाहिए।

इस जगत में जो आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह कदाचित् पूर्व पापकर्म के उदय से दुःखी भी हो और अकेला भी हो, तथापि वास्तव में प्रशंसनीय है और इससे विपरीत जो जीव अत्यन्त आनन्द के देनेवाले, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाह्य है और मिथ्यामार्ग में स्थित हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले ही अनेक हों और वर्तमान में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हों; तथापि वे प्रशंसनीय नहीं हैं। इसलिए भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धा गुण की निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्वसुख का कारण है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्ध रहित हूँ। ऐसा विकल्प करना सो शुभराग है, उस शुभराग का अवलम्बन भी सम्यग्दृष्टि के नहीं है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है। उसके किसी विकार का अवलम्बन नहीं है; किन्तु समूचे आतमा का अलवम्बन है, वह पूरे आत्मा को स्वीकार करता है।

एक बार विकल्प रहित होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखण्ड स्वभाव का लक्ष्य ही स्वरूप की सिद्धि के लिए कार्यकारी है। अखण्ड सत्यस्वरूप को जाने बिना

श्रद्धा किये बिना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्ध हूँ, इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिए कार्यकारी नहीं है। एकबार अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य करने के बाद जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं; परन्तु वे स्वरूप को रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं; क्योंकि श्रद्धा मे तो वृत्ति विकल्प रहित स्वरूप है, इसलिए जो वृत्ति उठती है वह श्रद्धा को नहीं बदल सकती है, जो विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। विकल्प रहित होकर अभेद का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्नलिखित गाथा में कही है –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवं एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खदिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

'आत्मा कर्म से बद्ध है या अबद्ध' इसप्रकार दो भेदों के विचार में लगना सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ' – इसप्रकार का विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्ति को नय के पक्ष को उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बन्धा हुआ हूँ' अथवा 'मैं बन्ध रहित मुक्त हूँ' इसप्रकार की विचार की श्रेणी को उल्लंधन करके जो आत्मा का अनुभव करता है वह सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है। 'मैं अबन्ध हूँ – बन्ध मेरा स्वरूप नहीं है', इसप्रकार के भंग की विचार की श्रेणी के कार्य में जो अटकता है वह अज्ञानी है और उस भंग के विचार को उल्लंघन करके अभंगस्वरूप को स्पर्श करना, अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित अबन्ध शुद्ध हूँ' – ऐसे निश्चयनय के पक्ष का जो विकल्प है, वह तो राग है और उस राग में जो अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। □

जिसे ऐसा लगे कि मेरा जीवन निष्फल गया, वह सफलता का मार्ग लेता है। – **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–181**

विकल्पों में स्वानुभव नहीं होता

इस जीव को अनादिकाल से आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है; इसलिए आत्मानुभव करने से पूर्व तत्संबंधी विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अनादिकाल से आत्मा का अनुभव नहीं है, अतः ऐसी वृत्तियों का उत्थान होता है कि 'मैं आत्मा कर्म के संबंध से युक्त हूँ अथवा कर्म के संबंध से मुक्त हूँ' – इसप्रकार दो नयों के दो विकल्प उठते हैं; परन्तु कर्म के संबंध से रहित हूँ – ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एक स्वरूप में कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नयपक्ष की अपेक्षाओं से परे है, एक प्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षाएँ नहीं हैं। मैं शुभाशुभभाव से रहित हूँ इसप्रकार के विचार में लगना भी एक पक्ष है, इससे भी पार आत्मस्वरूप है, स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है, यही सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

देह की क्रिया से सम्यग्दर्शन नहीं होता। जड़कर्मों से भी नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभराग से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायकस्वरूप हूँ – ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव कराने के लिए समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ इसप्रकार के विचार में जो अटका वह भी भेद के विचार में अटक गया। भेद के विचार में अटक जाना सम्यग्दर्शन का स्वरूप नहीं है।

वस्तु अपने आप परिपूर्णस्वभाव से भरी हुई है। आत्मा का स्वभाव पर की अपेक्षा से रहित एकरूप है। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है; परन्तु मैं अबंध हूँ इसप्रकार के विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टा निरपेक्षस्वभाव का लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु ! तेरी प्रभुता की महिमा अंतरंग में परिपूर्ण है, अनादिकाल से उसकी सम्यक् प्रतीति के बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनादिकाल से परलक्ष्य ही किया है; अपने स्वभाव का लक्ष्य नहीं

किया भाई ! शरीरादि में सुख नहीं है। शुभराग में सुख नहीं है और शुभरागरहित मेरा स्वरूप है – इसप्रकार के भेद विचार में भी सुख नहीं है। इसलिए उस भेद के विचार में अटक जाना अज्ञानी का कार्य है। और उस नयपक्ष के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञातास्वभाव का लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष्य कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन को, सब एक ही है।

विकल्प रखकर स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष्य नय के द्वारा भी नहीं होता। कोई किसी महल में जाने के लिए चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये; किन्तु वह मोटर महल के दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटर के साथ महल के अन्दर कमरे में नही घुसा जा सकता। इसीप्रकार नयपक्ष के विकल्पों वाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये। मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आंगन तक ही जाया जा सकता है; किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्ष का ज्ञान उस स्वरूप आंगन में आने के लिए आवश्यक है।

'मैं स्वरूपाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ है, जड़कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, मैं विकार करूँ तो कर्मों को निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते, मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो राग-द्वेष होता है उसे कर्म नहीं कराता तथा वह परवस्तु में नहीं होता, किन्तु मेरी अवस्था में होता है, वह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चय से मेरा स्वभाव रागरहित ज्ञानस्वरूप है।' इसप्रकार सभी पहलुओं का (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिए। किन्तु जबतक इतना करता है तब तक भी भेद का लक्ष्य है। भेद के लक्ष्य से अभेद आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। तथापि पहले उन भेदों को जानना चाहिए, जब इतना जान ले तब समझना चाहिए कि वह स्वरूप के आंगन तक आया है

और बाद में जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब भेद का लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूप का अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते तो हैं; परन्तु वे नयपक्ष के कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक तक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन का अखण्डद्रव्य के साथ ही संबंध है। भंग भेद रहित द्रव्य ही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय को स्वीकार नहीं करता। सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है, उसका संबंध निश्चय-व्यवहार दोनों के साथ हैं। निश्चय अखण्ड स्वभाव को ग्रहण करता है तथा व्यवहार पर्याय के भंग भेदों को ग्रहण करता है।

सम्यग्दर्शन स्वयं एक निर्मल पर्याय है, किन्तु यह अपने को नहीं जानता कि मैं निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शन का विषय एक अखण्ड द्रव्य है, पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

प्रश्न :– यदि सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड है और वह पर्याय को स्वीकार नहीं करता तो सम्यग्दर्शन के समय पर्याय कहाँ चली जाती है ? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्य से भिन्न हो जाती है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन का विषय तो अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय मैं द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद नहीं है। गुण-पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है, किन्त उस भेद का विकल्प मान्य नहीं है। सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है उसे भी सम्यग्दर्शन विषय नहीं करता। अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन का विषय है, आत्मा तो सम्यग्दर्शन को मात्र प्रतीति में लेता है। सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान वस्तु के सामान्य-विशेष स्वरूप को जानता है। स्वयं अपने आप को, निमित्त को और सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है।

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक आदि कोई भी भाव

सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है; क्योंकि ये सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। जब वस्तु का लक्ष्य किया तब श्रद्धा सम्यक् हुई; परन्तु ज्ञान सम्यक् कब हुआ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है। जब ज्ञान ने सारे द्रव्य को प्रगट पर्याय को और विकार को तदवस्था जानकर इसप्रकार का विवेक किया कि जो परिपूर्ण स्वभाव है वही मैं हूँ और जो विकार है वह मैं नहीं हूँ, तब ज्ञान सम्यक् हुआ। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को और सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा पर्याय की कमी को यथावत् जानता है, ज्ञान में पर्याय की स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेदस्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहनेवाला) सम्यग्ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है। इसलिए वह सम्यक् है। □

तेरा स्वभाव परमानन्दस्वरूप ही है, ध्रुव सत् है; परन्तु राग के प्रेम में परमानन्दस्वरूप को ठोकर लगती है। दया–दान के राग का मूल्यांकन करने से चैतन्य को ठोकर लगती है, इसलिए राग का मूल्यांकन छोड़कर चैतन्य की कीमत कर। अब एकबार अपनी इस वस्तु का आदर कर! ग्यारह अंग का ज्ञान हो वह भी तेरी वस्तु नहीं है, तो बाहर की कौन वस्तु तेरी होगी ? अपनी पर्याय में पर का मूल्य आंका, परन्तु पर्याय जिसकी है, उसका मूल्यांकन नहीं किया।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–183

सम्यग्दर्शन का विषय

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य अभेद है। परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन के मान्य है एवं बन्ध-मोक्ष सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं है। बन्ध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भंगभेद आदि सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना भी व्यवहार है; क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है। वह अभावरूप कारण है, इसलिए व्यवहार है।

त्रिकाल अखण्ड वस्तु ही निश्चय मोक्ष का कारण है; किन्तु परमार्थतः तो वस्तु में कारण-कार्य का भेद भी नहीं है, कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखण्डवस्तु में कार्य कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है; इसलिए वह भी व्यवहार है; तथापि व्यवहार से भी कार्य-कारण भेद अवश्य ही है। यदि कार्य-कारण भेद से सर्वथा न हो तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिए भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए अवस्था में साधक-साध्य भेद है; परन्तु अभेद के लक्ष्य के समय व्यवहार का लक्ष्य नहीं होता; क्योंकि व्यवहार के लक्ष्य में भेद होता है और सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में अभेद ही होता है। एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

अनादि से आत्मा के अखण्ड आनन्द को सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं जाना, इसलिए पर में और विकल्प में जीव आनन्द मान रहा है, परन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ' – उसी में मेरा आनन्द है। पर में कहीं भी मेरा आनन्द नहीं है – इसप्रकार स्वभावदृष्टि के बल से एकबार सबको नीरस बना दे। जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी मेरी शांति के साधक नहीं है। मेरी शान्ति मेरे स्वरूप में है, इसप्रकार स्वरूप के

रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बना दे तो तुझे सहजानन्द स्वरूप के अमृतरस की अपूर्व शांति का अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन है।

अनन्तकाल से अनन्त जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्तकाल में अनन्त जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इस जीव ने संसार पक्ष तो (व्यवहार पक्ष) अनादि से ग्रहण किया है; परन्तु सिद्ध परमात्मा का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया, अब अपूर्व रुचि से निःसन्देह बनकर सिद्ध का पक्ष करके अपने निश्चय सिद्ध स्वरूप को जानकर संसार के अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अध्याय में कहा है कि मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है, मिथ्यात्व का सद्भाव रहते हुए अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता, इसलिए प्रत्येक उपयों के द्वारा सब तरह से इस मिथ्यात्व का नाश करना चाहिए।

चतुर्थ अध्याय में भी कहा है कि – यह जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर रहा है और इसी परिणमन के द्वारा संसार में अनेकप्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का संबंध होता है। इसलिए हे भव्य जीवो ! यदि तुम दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शनादि के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावों का अभाव करो।

मोक्षमार्गप्रकाशक में अनेक प्रकार से मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप निरूपण करने का हेतु यह है कि मिथ्यात्व के स्वरूप को समझ कर यदि अपने में वह महान दोष हो तो उसे दूर किया जाये। यदि अन्य जीवों में वह दोष हो तो उन जीवों पर कषाय नहीं करना चाहिये। हाँ, यह ठीक है कि यदि दूसरों में मिथ्यात्वादिक दोष हों तो उनकी पूजा-विनय भक्ति न की जाये; किन्तु उन पर द्वेष भी नहीं किया जाये।

अपने में यदि मिथ्यात्व हो तो उसका नाश करने के लिये ही यहाँ पर मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है; क्योंकि अनन्त जन्म-मरण का मूलकारण एक मिथ्यात्व ही है। क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि कोई भी पाप यद्यपि बुरे हैं, तथापि अनन्त संसार का कारण नहीं है, इसलिये वास्तव में महापाप नहीं है; किन्तु विपरीत मान्यता अनन्त जन्म-मरण की जड़ है, इसलिये मिथ्यात्व ही महापाप है, इसी में समस्त पाप समाये हैं। जगत में मिथ्यात्व के बराबर अन्य कोई पाप नहीं है, विपरीत मान्यता में अपने स्वभाव की अनन्त हिंसा है। कुदेवादि को मानने में तो गृहीत मिथ्यात्व का अत्यन्त स्थूल महापाप है।

कोई लड़ाई में करोड़ों मनुष्यों के संहार करने के लिये खड़ा हो, उसके पाप की अपेक्षा एक क्षण के मिथ्यात्व सेवन का पाप अनन्तगुणा अधिक है। सम्यग्दर्शन के होते ही ४१ प्रकार के कर्मों का तो बन्ध होता ही नहीं है। जो मिथ्यात्व का सेवन करता हुआ, शरीरादि की क्रिया को अपने आधीन मानता है वह जीव त्यागी होकर भी यदि कोमल पींछी से पर जीव की रक्षा का यत्न कर रहा हो तो भी उसे अनंत संसार का बन्ध ही होता है और उसके समस्त प्रकृतियाँ बन्धती हैं। शरीर की कोई क्रिया अथवा एक विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, इसप्रकार की प्रतीति के द्वारा जिसने मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है, वह जीव लड़ाई में हो अथवा विषय-सेवन कर रहा हो, तथापि उस समय उसके ४१ प्रकृतियाँ नहीं बंधती जबकि त्यागी मिथ्यादृष्टि के सभी कर्म बंधते हैं।

जगत के जीव सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के स्वरूप को ही नही समझे वे पाप का माप बाहर के संयोगों से निकालते हैं; किन्तु वास्तविक पाप तो एक समय के विपरीत अभिप्राय में है। उस मिथ्यात्व का पाप जगत के ध्यान में ही नहीं आता और अपूर्व आत्मप्रतीति के प्रगट होने पर अनन्तसंसार का अभाव हो जाता है तथा अभिप्राय में सर्वपाप दूर हो जाते हैं। यह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? इसे जगत के जीवों ने सुना तक नहीं है।

मिथ्यात्वरूपी महान पाप के रहते हुये अनन्त व्रत करे, तप करे, देवदर्शन, भक्ति, पूजा इत्यादि सबकुछ करे और देशसेवा के भाव करे तथापि उसका संसार किंचित मात्र भी कम नहीं होता। एक सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप की सच्ची पहिचान) के उपाय के अतिरिक्त अन्य जो अनन्त उपाय हैं, वे सब उपाय करने पर भी मिथ्यात्व को दूर किये बिना धर्म का अंश भी प्रगट नहीं होता और एक भी जन्म-मरण कम नहीं होता, इसलिये यथार्थ तत्त्वविचाररूप उपाय के द्वारा सर्वप्रथम मिथ्यात्व का नाश करके शीघ्र ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

यह विशेष ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी शुभभाव की क्रिया या व्रत, तप इत्यादि सम्यक्त्व को प्रगट करने का उपाय नहीं है; किन्तु अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा की रुचि तथा लक्षपूर्वक सत्समागम ही उसका उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है तथा पुण्य के करते-करते धर्म होता है। इसप्रकार की मिथ्यात्वपूर्ण विपरीत मान्यता में एक क्षण भर में अनन्त हिंसा है, अनन्त असत्य है, अनन्त चोरी है, अनन्त अब्रह्मचर्य है और अनन्त परिग्रह है। अधिक क्या कहें? एक मिथ्यात्व में एक ही साथ जगत के अनन्त पापों का सेवन है।

1. मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ – इसका अर्थ यह है कि जगत में जो अनन्त परद्रव्य हैं, उन सबको पराधीन माना है और पर मेरा कुछ कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि स्वभाव को पराधीन माना है। इस मान्यता में जगत के अनन्त पदार्थों की और अपने अनन्त स्वभाव की स्वाधीनता की हत्या की गई है; इसलिये उसमें अनंत हिंसा का महान पाप होता है।

2. जगत के समस्त पदार्थ स्वाधीन हैं, उसकी जगह उन सबको पराधीन-विपरीत माना तथा जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वरूप माना। इस मान्यता में अनन्त असत्-सेवन का महापाप है।

3. पुण्य का विकल्प अथवा किसी भी परवस्तु को जिसने अपना

माना है, उसने परवस्तुओं और विकारी भावों को अपना स्वरूप मानकर अनन्त चोरी का महापाप किया है।

4. एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर सकता है, यह माननेवाले ने स्वद्रव्य-परद्रव्य को भिन्न न रखकर उन दोनों के बीच व्यभिचार करके दोनों में एकत्व माना है। यही अनन्त मैथुन-सेवन का महापाप है।

5. एक रजकण भी अपना नहीं है, ऐसा होने पर भी जो जीव ऐसा मानता है कि मैं उसका कुछ कर सकता हूँ, वह परद्रव्य को अपना मानता है; अतः इस मान्यता में अनन्त परिग्रह का महापाप है।

इसप्रकार जगत के सर्व महापाप एक मिथ्यात्व में ही समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिये जगत का सबसे महापाप मिथ्यात्व ही है। और सम्यग्दर्शन के होने पर ऊपर के समस्त महापापों का अभाव हो जाता है। इसलिये मिथ्यात्व को छोड़ो और सम्यक्त्व को प्रकट करो।

वस्तु और सत्ता में कथंचित् अन्यत्व है; सम्पूर्ण वस्तु एक ही गुण के बराबर नहीं है तथा एक गुण सम्पूर्ण वस्तुरूप नहीं है। वस्तु में कथंचित् गुण-गुणी भेद है, इसलिये वस्तु के प्रत्येक गुण स्वतंत्र हैं। श्रद्धा और चारित्र गुण भिन्न-भिन्न हैं। चारित्रगुण में कषाय मंद होने से श्रद्धा गुण में कोई लाभ होता हो सो बात नहीं है। क्योंकि श्रद्धा गुण और चारित्र गुण में अन्यत्व भेद है। कषाय की मंदता करना चारित्र गुण की विकारी क्रिया है। श्रद्धा और चारित्र गुण में अन्यत्वभेद है, इसलिये चारित्र के विकार की मंदता सम्यक् श्रद्धा का उपाय नहीं है।

श्रद्धा गुण के सुधर जाने पर भी चारित्र गुण नहीं सुधर जाता, क्योंकि श्रद्धा और चारित्र गुण भिन्न हैं। राग के कम होने से अथवा चारित्र गुण के आचरण से जो जीव सम्यक् या मिथ्या श्रद्धा का माप करना चाहते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें वस्तुस्वरूप के गुण-भेद की खबर नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के आचरण भिन्न-भिन्न हैं।

कषाय के होने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है और जीव एक भवावतारी भी हो सकता है; तथा अत्यन्त मन्दकषाय होने पर भी

सम्यग्दर्शन न हो तो अनन्त संसारी हैं। अज्ञानी जीव चारित्र के विकार को मन्द करता है; किन्तु उसे श्रद्धा के स्वरूप की खबर नहीं होती। पहले यथार्थ श्रद्धा के हुए बिना कदापि भव का अन्त नहीं होता। सच्ची श्रद्धा के बिना सम्यक्चारित्र का अंश भी प्रगट नहीं होता। ज्ञानी के विशेष चारित्र न हो तो भी वस्तुस्वरूप की प्रतीति होने से वह दर्शनाचार में निःशंक होता है। मेरे स्वभाव में राग का अंश भी नहीं है, मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता ही हूँ – जिसने ऐसी प्रतीति की है, उसके चारित्रदशा न होने पर भी दर्शनाचार सुधर गया है, उसे श्रद्धा में कदापि शंका नहीं होती। ज्ञानी को ऐसी शंका उत्पन्न नहीं होती कि राग होने से मेरे सम्यग्दर्शन में कहीं दोष तो नहीं आ जायगा; क्योंकि वह जानता है कि जो राग होता है वह चारित्र का दोष है; किन्तु चारित्र के दोष से श्रद्धा गुण में मलिनता नहीं आ जाती। हाँ, जो राग होता है, उसे यदि अपना स्वरूप माने अथवा पर में सुखबुद्धि माने तो उसकी श्रद्धा में दोष आता है। यदि सच्ची प्रतीति की भूमिका में अशुभराग हो जाये तो उसका भी निषेध करता है यद्यपि वह जानता है कि वह दोष चारित्र का है, वह मेरी श्रद्धा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है तो भी उसका निषेध करता है – ऐसा दर्शनाचार का अपूर्व सामर्थ्य है।

दर्शनाचार ही सर्वप्रथम पवित्र धर्म है। अनन्त परद्रव्यों के काम में मैं कुछ निमित्त भी नहीं हो सकता; अर्थात् पर से तो भिन्न ज्ञाता ही हूँ और आसक्ति का जो राग-द्वेष है यद्यपि वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, फिर भी वह मेरे श्रद्धा स्वरूप को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है – ऐसा दर्शनाचार की प्रतीति का जो बल है सो अल्पकाल में मोक्ष देनेवाला है, अनन्तभव का नाश करके एक भवावतारी बना देने की शक्ति दर्शनाचार में है। दर्शनाचार की प्रतीति प्रगट किये बिना राग को कम करके अनन्त बार बाह्य चारित्रचार का पालन करने पर भी दर्शनाचार के अभाव में उसके अनंत भव दूर नहीं हो सकते। दर्शनाचार के बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

श्रद्धा में पर से भिन्न (निवृत्तस्वरूप) को मान लेने से ही समस्त रागादि की प्रवृत्ति और संयोग छूट ही जाते हों, यह बात नहीं है; क्योंकि श्रद्धा गुण और चारित्र गुण में भिन्नता है। इसलिये श्रद्धा गुण की निर्मलता प्रगट होने पर भी चारित्र गुण में अशुद्धता भी रहती है। यदि द्रव्य को सर्वथा एक श्रद्धा गुण रूप ही माना जाये तो श्रद्धागुण के निर्मल होने पर सारा द्रव्य संपूर्ण शुद्ध ही हो जाना चाहिये; किन्तु श्रद्धा गुण और आत्मा में सर्वथा एकत्व अभेदभाव नहीं है; इसलिये श्रद्धा गुण और चारित्र गुण के विकास में क्रम बन जाता है। ऐसा होने पर भी गुण और द्रव्य के प्रदेशभेद , श्रद्धा और आत्मा प्रदेश की अपेक्षा से न मानो तो एक ही हैं। गुण और द्रव्य में अन्यत्व भेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु में एक ही गुण नहीं; किन्तु अनन्त गुण हैं और उनमें अन्यत्व नाम का भेद है, इसलिये श्रद्धा के सम्यक् होने पर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता। यदि श्रद्धा सम्यक् होते ही तत्काल ही केवलज्ञान हो जाये तो वस्तु के अनन्तगुण ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

यहाँ आम का दृष्टान्त देकर अन्यत्व का स्वरूप समझाते हैं। जैसे – साधारण देशी आम में रंग और रस गुण भिन्न-भिन्न हैं, रंग गुण हरी दशा को बदलकर पीला होने पर भी रस खट्टा ही रहता है। बनारसी लंगड़ा आम का रस गुण बदलकर मीठा हो जाता है; तथापि इस आम का रंग हरा ही रहता है; क्योंकि रंग और रस गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसप्रकार वस्तु में दर्शन गुण के विकसित होने पर भी चारित्रगुण विकसित नहीं होता है; परंतु आत्मा के चारित्र गुण में ऐसा नहीं हो सकता कि चारित्र गुण विकसित हो और दर्शनगुण विकसित न हो। अतः उदाहरण एक देश ही घटाना चाहिये। स्मरण रहे कि सम्यक्दर्शन के बिना कदापि सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

प्रश्न :– जब श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतंत्र हैं, तब ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर :– यद्यपि गुण स्वतंत्र हैं; परन्तु श्रद्धागुण से चारित्रगुण पूज्य

है, श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यक्ता है। श्रद्धा के विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता। जिसमें श्रद्धागुण के लिये अल्प पुरुषार्थ न हो उसमें चारित्रगुण के लिये अत्यधिक पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है ? पहले सम्यक् श्रद्धा को प्रगट करने का पुरुषार्थ करने के बाद विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। श्रद्धागुण की क्षायिक श्रद्धारूप पर्याय होने पर भी ज्ञान और चारित्र में अपूर्णता रहती है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु में अनंत गुण हैं और वे सब स्वतंत्र हैं; यही गुणों में अन्यत्व भेद है।

ज्ञानी के चारित्रदोष के कारण राग-द्वेष होता है; तथापि उसे अन्तरंग से निरन्तर यह समाधान बना रहता है कि – यह राग-द्वेष परवस्तु के परिणमन के कारण नहीं; किन्तु मेरे चारित्र के दोष से ही होते हैं। मेरी पर्याय में राग-द्वेष होने से पर में कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के राग-द्वेष का स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्व का अपूर्व निराकुल संतोष हो जाता है। केवलज्ञान होने पर भी अरहन्त भगवान के प्रदेशत्व गुण की और उर्ध्वगमन स्वभाव की निर्मलता नहीं है, इसीलिये वे संसार में हैं। अघातिया कर्मों की सत्ता के कारण अरहन्त भगवान के संसार हो, यह बात नहीं है; किन्तु अन्यत्व नामक भेद होने के कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुण का विकार है, इसीलिये वे संसार में हैं।

जैसे – सम्यग्दर्शन होने पर भी यदि चारित्र नहीं हुआ तो वहाँ अपने चारित्रगुण की पर्याय में ही दोष है, श्रद्धा में दोष नहीं। चारित्र संबन्धी दोष अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के कारण नहीं। इसीप्रकार केवलज्ञान के होने पर भी प्रदेशत्व सत्ता और योग सत्ता में जो विकार रहता है, उसका कारण यह है कि समस्त गुणों में अन्यत्व नामक भेद है। प्रत्येक पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है। यह गाथा द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्र सत्ता को जैसा का तैसा बतलाती है; क्योंकि यह

ज्ञेय का प्रकरण है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ और गुण की सत्ता की स्वतंत्रता की प्रतीति कराता है। यदि प्रत्येक गुणसत्ता और पर्यायसत्ता के अस्तित्व को ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है। निर्विकारी पर्याय अथवा विकारी पर्याय भी स्वतन्त्र पर्याय सत्ता है। उसे ज्यों का त्यों जानना चाहिये। जीव पर्याय में जो विकार स्वतन्त्ररूप से करता है, उसमें भी अपनी पर्याय का ही दोष कारण है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है, तब फिर कर्म की सत्ता आत्मा की सत्ता में क्या कर सकती है ? कर्म और आत्मा की सत्ता में प्रदेशभेद स्पष्ट है, दो वस्तुओं में सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया गया है कि एक गुण के साथ दूसरे गुण का पृथक्त्व भेद न होने पर भी उनमें अन्यत्व भेद है, इसलिये एक गुण की सत्ता में दूसरे गुण की सत्ता नहीं है। इसप्रकार यह गाथा स्व में ही अभेदत्व और भेदत्व बतलाती है। प्रदेशभेद न होने से अभेद है और गुण-गुणी की अपेक्षा से भेद है। कोई भी दो वस्तुयें लीजिये, उन दोनों में प्रदेशत्वभेद है; किन्तु एक वस्तु में जो अनन्त गुण हैं, उन गुणों में एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद तो है, पृथकत्व भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के भेदों के स्वरूप को समझ लेने पर अनंत परद्रव्यों का अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रयबुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है तथा सच्ची श्रद्धा होने पर समस्त गुणों को स्वतंत्र मान लिया जाता है। पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं – ऐसी प्रतीतिपूर्वक जो विकार होता है, उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है। समझ का यही अपूर्व लाभ है।

प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय का वर्णन है; प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेय है, आत्मा अपने समस्त गुण-पर्याय का और अभेद स्वद्रव्य का ज्ञाता हो गया, यही सम्यग्दर्शन है।

शुद्धनय वस्तु के शुद्धस्वरूप का ज्ञापक है, अतः जो शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे सम्यक्-अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, तथा जो

अशुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्म से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को अशुद्धनय और व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने समयसार गाथा ११ की टीका में यह स्पष्टरूप से कहा है।

"यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादिकाल से ही है और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब समझकर बहुत किया है; किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया ही नहीं और इसका उपदेश भी विरल है। इससे उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश मुख्यता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है; इसे जाने बिना जहाँतक जीव व्यवहारनय में मग्न है, वहाँतक आत्मा को श्रद्धा-ज्ञानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।' इसप्रकार आशय समझना।

प्रश्न :– आत्मा में अनादिकाल से जो मिथ्यात्वभाव है, अधर्म है, उस मिथ्यात्वभाव को दूर करके सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो?

उत्तर :– इस आत्मा का स्वभाव अरहंत भगवान जैसा ही पुण्य-पाप रहित है। आत्मा के स्वभाव से च्युत होकर जो पुण्य पाप होते हैं, उन्हें अपना स्वरूप मानना मिथ्यात्व है। 'शरीर, मन, वाणी आत्मा के आधीन हैं और उनकी क्रिया आत्मा कर सकता है' – ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है तथा आत्मा शरीर, मन, वाणी के आधीन है और उनकी क्रिया से आत्मा को धर्म होता है – ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है और अनंतसंसार में परिभ्रमण का कारण है। इस मिथ्यात्व का नाश किये बिना धर्म नहीं होता। इस मिथ्यात्व को नष्ट करने का उपाय यहाँ बतलाते हैं। □

मिथ्यात्व को नष्ट करने की विधि

जो जीव भगवान अरहंत के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से बराबर जानते हैं। वे जीव वास्तव में अपनी आत्मा को जानते हैं और उनका मिथ्यात्वरूप भ्रम अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है तथा शुद्ध सम्यक्त्व प्रकट होता है – यह धर्म का उपाय है। अरहंत के आत्मा का कैसा नित्य एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, उसे जो जानता है, वह जीव अरहंत जैसे अपने आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय को पहिचानकर तत्पश्चात् अभेद आत्मा की अर्न्तदृष्टि करके मिथ्यात्व को दूर करता है और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है – यह प्रवचनसार की ८० वीं गाथा का सार है।

आठ कर्मों का अभाव करके सिद्धदशा कैसे हो ? यह बात इस ८० वीं गाथा में है।

अरिहन्त भगवान का आत्मा भी पहले अज्ञानदशा में था और संसार में परिभ्रमण करता था, फिर आत्मा का भान करके मोह का क्षय किया, तब अरहन्तदशा प्रगट हुई। पहले अज्ञान दशा में भी वही आत्मा था और इस समय अरहन्तदशा में भी वही आत्मा है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाल रहता है वह द्रव्य, आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण एक साथ विद्यमान हैं वे गुण हैं, और अरहन्त को अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट हुये हैं। ये उनकी पर्यायें हैं। अब उनके राग-द्वेष या अपूर्णता किंचित् भी नहीं रहे हैं। इसप्रकार अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण–पर्याय को जो जानते हैं वे अपने आत्मा को भी वैसा ही जानते हैं; क्योंकि यह आत्मा भी अरहन्त की जाति का है। जैसे अरहन्त के आत्मा का स्वभाव है वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है। निश्चय से उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इससे पहले अरहन्त के आत्मा को जानने से अरहन्त समान अपने आत्मा को भी जीव मन द्वारा विकल्प से जान लेता है और फिर अन्तरोन्मुख होकर गुण-पर्यायों से अभेदरूप एक आत्मस्वभाव का अनुभव करता है, तब द्रव्य-पर्याय की एकता होने से वह जीव चिन्मात्रभाव को प्राप्त करता है, उस

समय मोह का कोई आश्रय न रहने से वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है और जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; वह अपूर्व है। सम्यग्दर्शन के बिना तीनकाल में धर्म नहीं होता।

जैसा अरहन्त भगवान का आत्मा है, वैसा ही यह आत्मा है। उसमें जो चेतन आत्मा है वह द्रव्य है, चैतन्य चेतनद्रव्य का गुण है और उस चैतन्य की ग्रंथियां अर्थात् ज्ञान–दर्शन की अवस्थायें ज्ञान-दर्शन का परिणमन आत्मा की पर्यायें हैं। इसके अतिरिक्त कोई रागादिभाव या शरीर-मन-वाणी की क्रियायें वास्तव में चैतन्य का परिणमन नहीं है इससे वे आत्मा की पर्यायें नहीं, आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिस अज्ञानी को अरहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं है। वह रागादि को और शरीरादि की क्रिया को अपना मानता है। 'मैं तो चैतन्यद्रव्य हूँ, मुझमें चैतन्य गुण है और मुझमें प्रतिक्षण चैतन्य की अवस्था होती है – वह मेरा स्वरूप है, इसके अतिरिक्त इसके जो रागादिभाव होते हैं, वे मेरा सच्चा स्वरूप नहीं हैं और जड़ की क्रिया तो मुझमें है ही नहीं।' – इसप्रकार जो अरहन्त जैसे अपने आत्मा को बराबर जान लेता है वह जीव आत्मस्वभाव के आंगन में आया है। यहां तो, जो जीव स्वभाव के आंगन में आ गया, वह अवश्य ही उसमें प्रवेश करता है। आत्मा के स्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव सम्यक्त्व है। वह सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये जीव प्रथम तो अपने आत्मा को मन द्वारा ऐसा समझ लेता है कि – "मेरा स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहन्त जैसा ही है। जैसे अरहन्त के त्रिकाल द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वैसे ही द्रव्य–गुण मुझमें हैं। अरहन्त की पर्याय में राग-द्वेष नहीं है और मेरी पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं। वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, इसप्रकार जिसने अपने आत्मा को राग-द्वेष रहित परिपूर्ण स्वभाववाला निश्चित किया, वह जीव सम्यग्दर्शन प्रगट होने के आंगन में खड़ा है। अभी तो उसने मन के अवलम्बन द्वारा स्वभाव का निर्णय किया है इसको आंगन कहा है। मन का अवलम्बन छोड़कर जब सीधा स्वभाव का

अनुभव करेगा, तब साक्षात् सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। भले ही पहले मन का अवलम्बन है, परन्तु निर्णय में तो 'अरहन्त जैसा मेरा स्वभाव है' – ऐसा निश्चित किया है; इसलिये उसे सम्यग्दर्शन का आंगन कहा है।

जिसप्रकार दियासलाई के सींक के सिरे में अग्नि प्रगट होने का स्वभाव है, वह आंख, कान आदि किन्हीं इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है। प्रथम दियासलाई की सींक के सिरे में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है – इसप्रकार उसके स्वभाव का विश्वास करके फिर उसे घिसने से अग्नि प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होने का स्वभाव है, वह स्वभाव किन्हीं इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात होता है। प्रथम परिपूर्णस्वभाव का विश्वास करके पश्चात् उसमें एकतारूपी घिसाई (घिसने की क्रिया) करने से केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है। शरीर-मन-वाणी तो दियासलाई की पेटी (माचिस) के समान हैं; जिसप्रकार दियासलाई की पेटी (आगे-पीछे के हिस्से) में अग्नि होने की शक्ति नहीं है; उसीप्रकार उन शरीरादि में केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है और पूजा-भक्ति आदि पुण्यभाव या हिंसा, चोरी आदि पापभाव उस दियासलाई के पिछले एवं आगे के भाग जैसे हैं। जिसप्रकार दियासलाई के पिछले-अगले भाग में अग्नि प्रगट होने की शक्ति नहीं है, उसीप्रकार उन पुण्य-पाप में सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान होने की शक्ति तो चैतन्यस्वभाव में है; पहले उस स्वभाव की प्रतीति करने से सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान होता है, इसके अतिरिक्त अन्यप्रकार से धर्म नहीं होता। स्वभाव की प्रतीति न करे और पुण्य-पाप को घिसता रहे, पूजा-भक्ति-व्रत में शुभराग करता रहे तो उससे सम्यग्दर्शनरूप धर्म नहीं होता और उपवासादि कर-करके शरीर-मन-वाणी को घिसता रहे उसमें भी कहीं धर्म नहीं होता; परन्तु शरीर-मन-वाणी और पुण्य-पाप से रहित त्रिकाली चैतन्यरूप आत्म-स्वभाव है, उसकी प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शनरूप प्रथम धर्म हो और पश्चात् उसमें एकाग्रता करने से सम्यक्चारित्ररूप धर्म

हो। सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितने शास्त्रों का अभ्यास कर ले, व्रत-उपवास करे, प्रतिमा धारण करे, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिंगी हो जाये; किन्तु ये सब करते-करते धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने से पहले भी अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने और उनके जैसा अपना आत्मा है–ऐसा मन से निश्चित करके उसके अनुभव का अभ्यास करे तो उसे धर्मसन्मुख कहा जाता है, वह जीव धर्म के आंगन में आ गया है।

अपना आत्मा अरहन्त जैसा है –ऐसा जहाँ मन से जाना वहीं पुण्य से आत्मा को लाभ मानने की मान्यता दूर हो गई। शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा से भिन्न है ही, राग-द्वेष के भाव भी अरहंत भगवान की अवस्था में नहीं हैं। किसी भी पुण्य-पाप के भाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या केवलज्ञान नहीं होता। आत्मा की प्रतीति और अनुभव करने से ही सम्यग्दर्शन होता है तथा उसमें एकाग्रता होने से ही चारित्र और केवलज्ञान होता है –ऐसा निश्चित कर लिया। अब तो बस उस स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही रहा।

स्वोन्मुखता करके मोह का क्षय करने की और सम्यग्दर्शन प्रगट करने की यही रीति है।

जिसने अरहन्त जैसा अपने आत्मा को मन द्वारा जान लिया है वह जीव स्वभाव के आंगन में आया है; परन्तु आंगन में आ जाने के पश्चात् अब स्वभाव का अनुभव करने में अनन्त अपूर्व पुरुषार्थ है। आंगन में आकर यदि विकल्प में ही रुका रहे तो अनुभव नहीं होगा; जिसमें चैतन्यस्वभाव के भीतर ढलकर अनुभव करने के लिये अनन्त पुरुषार्थ हो, वही सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। दूसरे जो जीव शुभविकल्प में रुक जाते हैं, उन्हें आत्मा का अनुभव नहीं होता। जो जीव शुभभावरूप स्वभाव के आंगन में आया वह तो स्वभावोन्मुख होकर अनुभव करेगा ही – ऐसी अप्रतिहतपने की ही बात ली है। आंगन में आकर अटक जाये – ऐसी बात ही यहाँ नहीं ली है।

प्रथम मन द्वारा अरहन्त जैसे अपने आत्मस्वभाव को जान लेने के

पश्चात् जो अब अंतरस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है – उसकी बात बतलाते हैं, अन्तर में ढलने की बात करते हैं। कहते हैं कि – पहले अरहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानो – वह भूमिका हुई; अब उस भूमिका से निकलकर अन्तर में अनुभव करने की बात कहते हैं।

यहाँ मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिसप्रकार हार खरीदनेवाला पहले तो हार को, उसकी सफेदी को और उसके मोतियों को जानता है; लेकिन जब हार पहिनता है, उस समय मोती और सफेदी का लक्ष नहीं होता – अकेले हार को ही लक्ष में लेता है। यहाँ हार को द्रव्य की उपमा है सफेदी, को गुण की उपमा है और मोती को पर्याय की उपमा है। मोह का क्षय करनेवाला जीव प्रथम तो अरहन्त जैसे अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, परन्तु जहाँ तक इन तीनों पर लक्ष रहे वहां तक राग रहता है और अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता। जहाँ अभेद द्रव्य को लक्ष में लिया वहाँ गुण और पर्याय दोनों का लक्ष एक ही साथ दूर हो गया और अकेले आत्मा का अनुभव रह गया। जिसप्रकार मोती का लक्ष छोड़कर हार को लक्ष में लिया वहाँ अकेला हार ही लक्ष में रहा– सफेदी का भी लक्ष नहीं रहा। उसीप्रकार जहाँ पर्याय का लक्ष छोड़कर द्रव्य को लक्ष में लेकर एकाग्र हुआ वहाँ गुण का लक्ष भी साथ ही हट गया। गुण–पर्याय दोनों गौण हो गये और एक द्रव्य का अनुभव रहा। इसप्रकार द्रव्य पर लक्ष करके आत्मा का अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

पुण्य-पाप के निषेध करने के लिये यह जानने योग्य हैं, कि आत्मा के अनुभव में पुण्य या पाप का विकल्प नहीं है। यहाँ दृष्टांत में जिसप्रकार झूलते हुए हार को लिया है; उसीप्रकार सिद्धांत में परिणमित होते हुए द्रव्य को बतलाना है, द्रव्य का परिणमन ही पर्यायें हैं, उन पर्यायों को त्रिकाली परिणमित होते हुए द्रव्य में ही अभेद करके और

गुण के भेद का भी विचार छोड़कर जब यह जीव द्रव्य में झुकता है, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

जहाँ पर्यायों को द्रव्य में अभेद किया और आत्मा के गुण-गुणी भेद की वासना भी समाप्त हुई, वहाँ भेद का विकल्प भी नहीं रहा, इसलिये सफेदी को पृथक् लक्ष में न लेकर उसका हार में ही समावेश करके जिसप्रकार हार को लक्ष में लेता है, उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा – ऐसे दो भेदों को लक्ष में न लेकर एक आत्मद्रव्य को ही लक्ष में लेता है; चैतन्य को चेतना में ही स्थापित करके जहाँ एकाग्र हुआ कि वहीं सम्यग्दर्शन होता है और मोह नाश को प्राप्त होता है।

देखो भाई ! यही आत्मा के हित की बात है। यह समझ पूर्व में एक क्षणमात्र भी नहीं की। जो एक क्षणमात्र भी ऐसी प्रतीति करे उसे भव नहीं रहता तथा इसे समझे बिना लाखों– करोड़ों रुपये इकट्ठे हो जायें तो उससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है। आत्मा का लक्ष किये बिना उसके अनुभव के अमूल्य क्षण का लाभ नहीं मिलता। जिसने ऐसे आत्मा का निर्णय कर लिया उसे आहार-विहारादि संयोग हों और पुण्य-पाप के परिणाम भी होते हों; तथापि आत्मा का लक्ष नहीं छूटता; आत्मा का जो निर्णय किया है वह किसी भी प्रसंग पर नहीं बदलता; इसलिये उसे प्रतिक्षण धर्म होता रहता है।

स्वयं सत्य को समझ ले वहाँ मिथ्यात्व अपने आप दूर हो जाता है; उसके लिये कुछ नियम या प्रतिज्ञा नहीं करना पड़ती। अग्नि का स्वभाव उष्ण है, जहाँ ऐसा जाना वहीं उसे ठण्डा न मानने का दृढ़ निश्चय हो गया।

जिसने आत्मस्वभाव को जाना उसके मिथ्या मान्यता तो दूर हो ही गई। स्वभाव को यथार्थ जाना उसमें 'मिथ्या न मानने की प्रतिज्ञा' स्वतः हो जाती है। उसके लिए प्रतिज्ञा या नियम नहीं लेना पड़ता। आत्मा के गुण-पर्याय को अभेद द्रव्य में ही परिणमित करके जिसने अभेद आत्मा का निर्णय किया उसके अभेद आत्मस्वभाव की प्रतीतिरूप

प्रतिज्ञा हुई; वहां उससे विपरीत मान्यतायें दूर हो ही गई; इसलिये विपरीत मान्यता न करने की मानो प्रतिज्ञा हो ही गई। उसीप्रकार जिसने चारित्र प्रगट किया उसके अचारित्र न करने की भी प्रतिज्ञा हो गई। नियम, प्रतिज्ञा आदि ते व्यवहार की बातें हैं। ये अन्दर की कमजोरी को ही प्रगट करते हैं वैसे भी प्रतिज्ञा आदि का उदय पंचम गुणस्थान में होता है।

इस प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में अरहन्त जैसे आत्मा को जानने की बात की, उसमें इतना तो आ गया कि पात्र जीव को अरहन्तदेव के अतिरिक्त सर्व कुदेवादि की मान्यता दूर हो ही गई है। अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर वहाँ नहीं रुकता; परन्तु अपने आत्मा की ओर उन्मुख होता है। मेरा स्वरूप द्रव्य-गुण और पर्याय से परिपूर्ण है, राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा निश्चय करके फिर पर्याय का लक्ष छोड़कर और गुणभेद का लक्ष छोड़कर अभेद आत्मा को लक्ष में लेता है – उससमय अकेले चिन्मात्रस्वभाव का अनुभव होता है, उसीसमय सम्यग्दर्शन होता है और मोह का क्षय हो जाता है। इसमें भी प्रतिज्ञा जैसी कोई बात नहीं की।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह हार है। उसका जो चैतन्यगुण है वह सफेदी है और उसकी प्रत्येक समय की चैतन्य पर्यायें मोती हैं। आत्मा का अनुभव करने के लिये प्रथम तो उन द्रव्य-गुण-पर्याय का पृथक्-पृथक् विचार करता है; पर्याय में जो राग-द्वेष होता है वह मेरा स्वरूप नहीं है; क्योंकि अरहन्त की पर्याय में राग-द्वेष नहीं है। रागरहित केवलज्ञानपर्याय मेरा स्वरूप है; वह पर्याय कहाँ से आती है ? त्रिकाली चैतन्यगुण में से वह प्रगट होती है और ऐसे ज्ञान, दर्शन, सुख, अस्तित्व आदि अनन्तगुणों का एकरूप पिण्ड आत्मद्रव्य है। – ऐसा जानने के पश्चात् भेद का लक्ष छोड़कर अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर एक आत्मा को ही जानने से विकल्परहित निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है; वही निर्विकल्प आत्मसमाधि है; वही आत्मसाक्षात्कार है; वही स्वानुभव है; वही भगवान का दर्शन है; वही सन्यग्दर्शन है। जो कहो

वह यही है, यही धर्म है। जिसप्रकार डोरा पिरोयी हुई सुई खोती नहीं है; उसीप्रकार यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो वह संसार में परिभ्रमण न करे।

प्रथम अरहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर अरहन्त का लक्ष छोड़कर आत्मा की ओर उन्मुख हुआ; अब अन्तर में द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्प छोड़कर अपने एक चेतनस्वभाव को लक्ष में लेकर एकाग्र होने से आत्मा में मोहक्षय के लिये कैसी क्रिया होती है – वह कहते हैं।

गुण-पर्याय को द्रव्य में ही अभेद करके अन्तरोन्मुख हुआ वहाँ उत्तरोत्तर प्रतिक्षण कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद का क्षय होता जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है। जहाँ अन्तरोन्मुख हुआ वहा "मैं करता हूँ और आत्मा की श्रद्धा करने की ओर ढलता हूँ" – ऐसा भेद का विकल्प नहीं रहता। "मैं कर्ता हूँ और पर्याय कर्म है; मैं पुण्य-पाप का कर्ता नहीं हूँ और स्वभाव पर्याय का कर्ता हूँ, पर्याय को अन्तर में एकाग्र करने की क्रिया करता हूँ, मेरी पर्याय अन्तर में एकाग्र होती जा रही है"– इसप्रकार के कर्ता-कर्म और क्रिया के विभागों के विकल्प नाश हो जाते हैं। विकल्परूप क्रिया न रहने से वह जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है। 'जो पर्याय द्रव्योन्मुख होकर एकाग्र हुई उस पर्याय को मैंने उन्मुख किया है' – ऐसा कर्ता-कर्म के विभाग का विकल्प अनुभव के समय नहीं होता। जब अकेले चिन्मात्रभाव आत्मा का अनुभव रह जाता है, उसी क्षण मोह निराश्रय होता हुआ नाश को प्राप्त होता है – यही अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दर्शन हो उस समय 'मैं पर्याय को अन्तरोन्मुख करता हूँ' – ऐसा विकल्प नहीं होता। 'मैं पर्याय को द्रव्योन्मुख करूँ अथवा तो इस वर्तमान अंश को त्रिकाल में अभेद करूँ' – ऐसा विकल्प रहे तो पर्यायदृष्टि का राग होता है और अभेद द्रव्य प्रतीति में नहीं आता। अभेद-स्वभाव की ओर ढलने से विकल्प का क्षय हो जाता है और

आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। जब जीव को ऐसा अनुभव हुआ तब वह सम्यग्दृष्टि हुआ।

सम्यग्दृष्टि कैसे हुआ जाता है – उसकी रीति कही जाती है। आत्मा पर के कार्य करता है – ऐसा माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। जो पुण्य-पाप के भावों को आत्मा का कर्तव्य माने वह भी मिथ्यादृष्टि है और 'अन्तर में जो निर्मलपर्याय हो उसे मैं करता हूँ' – इसप्रकार आत्मा में कर्ता-कर्म के भेद के विकल्प में ही रुका रहे उसका भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता। 'मेरी पर्याय अन्तरोन्मुख होती है, पहली पर्याय की अपेक्षा दूसरी पर्याय में अन्तर की एकाग्रता बढ़ती जाती है' – इसप्रकार कर्ता-कर्म और क्रिया के भेद का लक्ष रहे, वह विकल्प की क्रिया है। जब अन्तरस्वभावोन्मुख होने से उस विकल्प की क्रिया का क्षय हो जाता है और आत्मा निष्क्रिय (विकल्प की क्रिया रहित) चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है; तब वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। पश्चात् अस्थिरता के कारण उसे जो राग–द्वेष के विकल्प उठें उनमें एकताबुद्धि नहीं होती और स्वभाव की दृष्टि नहीं हटती, इससे सम्यग्दर्शनरूप धर्म टिका रहता है।

यह अपूर्व बात है। जिसप्रकार व्यापार धन्धे में ब्याज आदि लेने का ध्यान रखता है; उसीप्रकार यहाँ आत्मा की रुचि करके बराबर ध्यान रखना चाहिये, अन्तर में मिलान करना चाहिये। यदि रुचि लाकर ६० मिनट तक बराबर लक्ष्य लखकर सुने तो भी दूसरों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का महान पुण्य हो जावे। और यदि आत्मा का लक्ष्य रखकर अन्तर में समझे तब तो जो अनन्त काल में नहीं मिला – ऐसे अपूर्व सम्यग्दर्शन का लाभ हो।

अपनी पर्याय को मैं अन्तरोन्मुख करता हूँ पर्याय की क्रिया में परिवर्तन होता जा रहा है; निर्मलता में वृद्धि हो रही है – ऐसा विकल्प राग है। अन्तर स्वभावोन्मुख होने से उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वह विकल्प नष्ट होता जाता है। जब आत्मा के लक्ष्य से एकाग्र होने लगता है तब

भेद के विकल्प की क्रिया का क्षय हो जाता है। और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र स्वभाव का अनुभव करता है। ऐसे सम्यग्दर्शन की अन्तर क्रिया है, वही धर्म की प्रथम क्रिया है। आत्मा में जो निर्मल पर्याय प्रकट होती है वह स्वयं धर्म क्रिया है; परन्तु मैं स्वयं निर्मल पर्याय प्रकट करूं, अभेद आत्मा की ओर पर्याय को उन्मुख करूं – ऐसा जो भेद का विकल्प है, वह राग है, वह धर्म की क्रिया नहीं है। अनुभव के समय उस विकल्प की क्रिया का अभाव है, इससे निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है।

मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, राग की क्रिया मैं नहीं हूँ – इसप्रकार पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का समय निश्चित करने में राग था; किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर अभेद स्वभाव में ढलने का ही पहले से लक्ष था। द्रव्य-गुण-पर्याय को जान लेने के पश्चात् भी जहाँ तक भेद का लक्ष रहे वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। अभेद स्वभाव में ढलने से भेद का लक्ष छूट जाता है। और सम्यग्दर्शन होता है। पहले जो द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना उसकी अपेक्षा स्वभाव में ढलने में अनंतगुणा पुरुषार्थ है; क्योंकि यह अन्तरस्वभाव की क्रिया है। स्वभाव के अनन्त पुरुषार्थ के बिना यदि संसार से पार हो सकते तो सभी जीव मोक्ष में चले जाते ! स्वभाव की रुचिपूर्वक अनंत पुरुषार्थ होना चाहिये।

पहले जो अरहंत के द्रव्य-गुण पर्याय को जान ले वह जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है और पश्चात अन्तर में अपने अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख होकर आत्मा को जानने से उसका मोह नष्ट हो जाता है। अन्तर में ढलता हूँ, इसलिये तत्काल कार्य प्रगट होगा – जब ऐसे विकल्पों को भी छोडकर क्रमशः सहज स्वभाव में ढलता जाता है, तब मोह निराश्रय होकर नाश को प्राप्त होता है।

जो आत्मा अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान ले उसे अपने आत्मा की खबर पडे कि मैं भी अरहंत की जाति का हूँ, अरहंतों की पक्ति में बैठ सकूँ; – ऐसा मेरा स्वभाव है। ऐसा निश्चित कर लेने

के पश्चात् पर्याय में जो कचास (कमी) है उसे दूर करके अरहंत जैसी पूर्णता करने के लिये अपने आत्मस्वभाव में ही एकाग्र होना रहा; इसलिये वह जीव अपने आत्मा की ओर उन्मुख होने की क्रिया करता है। और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की क्रिया का वर्णन है। यह धर्म की सबसे पहली क्रिया है। छोटे से छोटा जैन धर्मी यानी अविरत सम्यग्दृष्टि होने की यह बात है। इसे समझे बिना किसी जीव को छट्ठे-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा अथवा पाँचवें गुणस्थान की श्रावक दशा होती ही नहीं। पंच महाव्रत, व्रत, प्रतिमा, त्याग आदि कुछ भी सच्चा नहीं होता। भरत चक्रवर्ती के छहखण्ड का राज्य था, उनके अरबों वर्ष तक राजपाट में रहने पर भी ऐसी दशा थी। जिसने आत्मस्वभाव का भान कर लिया, उसे सदैव वह भान बना रहता है। वह खाते पीते समय भी आत्मा का भान नहीं भूलता। अनेक प्रकार के राजपाट, व्यापार धन्धे आदि संयोगों में दिखाई दें और उनके पुण्य-पाप के भाव होते हों, तथापि वे सोते समय भी चैतन्य का भान नहीं भूलते। आसन बिछाकर बैठे, तभी धर्म होता है – ऐसा नहीं है। यह सम्यग्दर्शनरूप धर्म तो निरन्तर बना रहता है।

यह बात अन्तर में ग्रहण करने जैसी है –रुचिपूर्वक शान्तचित्त होकर आत्मा का परिचय करे, आगम का अभ्यास करे तो यह बात पकड़ में आ सकती है। पहले सत्समागम एवं स्वाध्याय से श्रवण–ग्रहण और धारण करके शान्तिपूर्वक अन्तर में विराजना चाहिये। यदि सत्समागम से श्रवण-ग्रहण-धारण ही न करे तो विचार करके अन्तर में किसप्रकार उतरेगा ? अन्तर में अपूर्व रुचि से, उत्साह से आत्मा की लौ पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। देखो! पैसे में सुख नहीं है तथापि पैसा मिलने की बात कितने रुचिपूर्वक सुनता है! जबकि इस बात से तो आत्मा को मुक्ति प्राप्त हो सकती है अतः इसे समझने के लिये अन्तर में रुचि और उत्साह होना चाहिये। जीवन में यही करने योग्य है। □

स्वानुभव करने की रीति

पहले स्वभाव की ओर ढलने की बात कही उस समय आत्मा को झूलते हार की उपमा दी थी और फिर अन्तरंग में एकाग्र होकर अनुभव किया तब अकम्प प्रकाशवाले मणि की उपमा दी थी। इसप्रकार जिसका निर्मल प्रकाश मणि की भांति अकम्परूप से वर्तता है – ऐसे उस चिन्मात्रभाव को प्राप्त जीव का मोहरूपी अंधकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है। जिसप्रकार मणि का प्रकाश पवन से नहीं कांपता; उसीप्रकार यहाँ आत्मा की ऐसी अडिग श्रद्धा हुई कि वह कभी डिगती नहीं है। जहाँ जीव आत्मा की निश्चल प्रतीति में स्थिर हुआ वहाँ फिर उसे मिथ्यात्व न रहेगा, क्योंकि जीव अपने स्वभाव में स्थिर हुआ कि उसे मिथ्यात्व कर्म का अवश्य क्षय हो जाता है।

पंचमकाल के मुनि पंचमकाल के जीवों के लिए बात करते हैं, तथापि मोह के क्षय की बात की है। यद्यपि अभी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता तथापि ऐसा कहा उसका कारण यह है कि तीव्र पुरुषार्थी का क्षयोपशम सम्यक्त्व भी अप्रतिहतरूप से क्षायिक ही होगा – ऐसी बात ली है और पश्चात् क्रमानुसार अंकपरूप से आगे बढ़कर वह जीव चारित्रदशा प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होता है।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान ज्ञान से मात्र जानते ही है, उनके ज्ञान में न तो विकल्प होता है ,न राग-द्वेष होता है और न कर्तृत्व ही की मान्यता होती है। उसीप्रकार समस्त आत्माओं का स्वभाव सिद्धों की भांति ही ज्ञातृत्व भाव से मात्र जानना ही है। जो अपने ज्ञानस्वभाव में उन्मुख होकर सर्व विकल्पादि का निषेध करता है। उसके ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि प्रगट हुई है और विकल्प की एकत्वबुद्धि टूट गई है; अब जो विकल्प आते हैं। उन सबका निषेध करता हुआ आगे बढ़ता है। साधक जीव यह जानता है कि सिद्ध का और मेरा स्वभाव समान ही है; क्योंकि सिद्धों में विकल्प नहीं है, इसलिए मैं अभी ही अपने स्वभाव

के बल से उनका निषेध करता हूँ। मेरे ज्ञान में सभी रागादि का निषेध ही है। जैसे सिद्ध भगवान मात्र चैतन्य हैं, उसीप्रकार मैं भी मात्र चैतन्य को ही अंगीकार करता हूँ।

जब स्वसन्मुख होकर सर्व पुण्य-पापरूप व्यवहार का निषेध करना मोक्षमार्ग है, तो फिर उस व्यवहार का निषेध क्यों न किया जाये ? वर्तमान में ही स्वभाव की प्रतीति करने पर पुण्य-पापादि व्यवहार का निषेध स्वयं ही हो जाता है। जो यह मानता है कि मैं अभी तो पुण्य-पापादि का निषेध नहीं करता; किन्तु बाद में निषेध कर दूँगा, उसे स्वभाव के प्रति रुचि नहीं है किन्तु पुण्य-पाप की ही रुचि है। यदि स्वभाव के प्रति रुचि हो और समस्त पुण्य-पापरूप व्यवहार के निषेध की रुचि हो तो स्वभावोन्मुख होकर अभी ही निषेध करना योग्य है, ऐसा निर्णय करता। रुचि के लिए काल मर्यादा नहीं होती। श्रद्ध हो किन्तु श्रद्धा का कार्य न हो ऐसा नहीं हो सकता। हाँ यह बात अलग है कि श्रद्धा में निषेध करने के बाद पुण्य-पाप के दूर होने में थोड़ा समय लग जाये, किन्तु जिसे स्वभाव की रुचि है और जिसकी ऐसी भावना है कि पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा करने योग्य है – तो वह श्रद्धा में तो पुण्य-पाप का निषेध वर्तमान में ही करता है। यदि कोई वर्तमान में श्रद्धा में पुण्य-पाप का आदर करे तो उसके पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा ही कहाँ रही ? श्रद्धा तो परिपूर्ण स्वभाव को ही वर्तमान मानती है।

जिसे स्वभाव की रुचि है – उसे पुण्य-पाप के विकल्प के निषेध की और स्वभाव की रुचि एवं आदर है, अब सम्पूर्ण स्वभाव की रुचि के बीच मे जो कुछ भी राग विकल्प उठता है, उसका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना ही एक मात्र कार्य रह जाता है। स्वभाव की श्रद्धा के बल से उसका निषेध किया सो किया, अब ऐसा कोई भी विकल्प या राग नहीं आ सकता कि जिसमें एकताबुद्धि हो और एकत्वबुद्धि के बिना होनेवाले जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं उन्हें दूर करने के लिए

श्रद्धा में अधीरता नहीं होती; क्योंकि स्वभाव में पुण्य-पाप के विकल्प हैं ही नहीं। स्वभावोन्मुख होकर उनका निषेध किया है इसलिए पुण्य-पाप के विकल्प अल्पकाल में दूर हो ही जाते हैं। ऐसा विकल्प नहीं होता कि उनका निषेध करूँ, किन्तु स्वभाव में वे निषेधरूप ही हैं।

जहाँ आत्मस्वभाव की रुचि हुई, वहीं पुण्य-पाप के निषेध की श्रद्धा हो जाती है। आत्मस्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है, इसलिए आत्मा में पुण्य-पाप का निषेध करने योग्य है। रुचि और अनुभव के बीच जो विलम्ब होता है उसका भी निषेध ही है। यदि विकल्प का निषेध न हो तो स्वभाव की रुचि कैसी ? और यदि स्वभाव की रुचि द्वारा विकल्प का निषेध होता है तो फिर उस विकल्प को तोड़कर अनुभव होने में कैसी शंका? रुचि होने के बाद जो विकल्प रह जाता है उसका भी रुचि और अनुभव के बीच कालभेद की स्वीकृति नहीं है। इसप्रकार जिसे स्वभाव की रुचि हो गई है उसे अन्तरंग से अधैर्य नहीं होता, किन्तु स्वभाव की रुचि के बल से ही वह शेष विकल्पों को तोड़कर अल्पकाल में स्वभाव का प्रगट अनुभव करता है।

आत्मा के स्वभाव में व्यवहार का, राग का, विकल्प का अभाव है; फिर जो व्यवहार को, राग को या विकल्प को आदरणीय मानता है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं है; इसलिये वह जीव व्यवहार का निषेध करके कभी भी स्वभावोन्मुख नहीं हो सकेगा। सिद्ध भगवान के रागादि का सर्वथा अभाव ही हो गया है, इसलिये उन्हें अब व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना शेष नहीं रह गया है, किन्तु साधक जीव के पर्याय में रागादि विकल्प और व्यवहार विद्यमान है; इसलिये उसे उस व्यवहार का निषेध करके स्वभावोन्मुख होना है।

यदि स्वभाव में पुण्य-पाप आदि का निषेध ही है तो फिर मोक्षार्थी के ऐसा आलम्बन नहीं हो सकता कि अभी तो व्यवहार या शास्त्राभ्यास कर लूँ; फिर बाद में उसका निषेध करूंगा। सिद्ध भगवान की भाँति मेरे स्वभाव में मात्र चैतन्य है, स्वभाव की श्रद्धा को किसी भी विकल्प

का अवलम्बन नहीं होता। जिस स्वभाव में राग नहीं है, उसकी श्रद्धा भी राग से नहीं होती। इसप्रकार सिद्ध के समान अपने आत्मा के ध्यान के द्वारा चैतन्य पृथक् अनुभव में आता है और वहाँ सर्व व्यवहार का निषेध स्वयमेव हो जाता है।

'आत्मा पुण्य-पाप से रहित ज्ञाता ही है' इतना मात्र जान लेने से सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता; क्योंकि इतना तो संसारी जीव भी जानते हैं। जानना तो ज्ञान के विकास का कार्य है।

"मैं आत्मा हूँ और पर से भिन्न हूँ – इतना मात्र मान लेना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि आत्मा में मात्र अस्तित्व ही नहीं है और मात्र ज्ञातृत्व ही नहीं है; परन्तु आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण हैं। उस अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के स्वानुभव के द्वारा जबतक आत्मसंतोष न हो तबतक सम्यक्दृष्टि नहीं होता।

आत्मा नव तत्वों के ज्ञान से तथा पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी है, ऐसी स्वानुभव की गन्ध भी न हो और मात्र विकल्प के द्वारा ज्ञान में जो कुछ जाना है उतने ज्ञातृत्व में ही संतोष मानकर स्वयं ही अपने को सम्यग्दृष्टि माने तो उस मान्यता में सम्पूर्ण परम आत्मस्वभाव का अनादर है। विकल्परूप ज्ञातृत्व से अधिक कुछ भी न होने पर भी जो जीव अपने में सम्यग्दृष्टित्व मान लेता है। उस जीव को परम कल्याणकारी सम्यग्दर्शन के स्वरूप की खबर ही नहीं है। सम्यकदर्शन वह चीज नहीं है जो मात्र विकल्प के द्वारा प्राप्त हो जावे, किन्तु परमपवित्र स्वभाव के साथ परिपूर्ण सम्बन्ध रखनेवाला सम्यग्दर्शन विकल्पों से परे, सहज स्वभाव के स्वानुभव प्रत्यक्ष से प्राप्त होता है; जबतक स्वभाव की साक्षी से सहज स्वभाव का स्वानुभव प्राप्त नहीं होता, तबतक उसी में संतोष न मानकर सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के परम उपाय में निरन्तर जागृत रहना चाहिये। इसलिये ज्ञानीजन सचेत करते हुये कहते हैं कि 'ज्ञान, चारित्र और तप तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली सम्यक्श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेष

तीन आराधनायें एक सम्यक्त्व के विद्यमान भाव में ही आराधक भाव से होती हैं।

हे भव्य जीवों ! सम्यक्त्व की अकथ और अपूर्व महिमा को जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शन को अनन्तानन्त दुखरूप अनादि संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति के हेतु भक्ति पूर्वक अंगीकार करो, उसकी प्रतिसमय आराधना करो।'

निःशंक सम्यग्दर्शन होने से पूर्व संतोष मान लेना और उस आराधना को एक ओर छोड़ देना, इसमें अपने आत्मस्वभाव का और कल्याणमूर्ति सम्यक्त्व का महा अपराध और अभक्ति है; जिसके महा दुःखदायी फल का वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे सिद्धों के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार मिथ्यात्व के दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता !

आत्मवस्तु मात्र द्रव्यरूप नहीं, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है। कदाचित् ज्ञान के विकास से द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को (विकल्प ज्ञान के द्वारा) जान ले; तथापि इतने मात्र से जीव का यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वस्तुस्वरूप में एक मात्र ज्ञानगुण ही नहीं; परन्तु श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्तगुण हैं और जब वे सभी गुण अंशतः स्वभावरूप कार्य करते हैं, तभी जीव का सम्यग्दर्शनरूपी प्रयोजन सिद्ध होता है। ज्ञान गुण ने विकल्प के द्वारा आत्मा को जानने का कार्य किया, परन्तु तभी दूसरी ओर श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप कार्य कर रहा है और आनन्दगुण आकुलता का संवेदन कर रहा है – यह सब न समझे और मात्र ज्ञान से ही सन्तोष मान ले तो ऐसा माननेवाला जीव सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को मात्र ज्ञान के एक विकल्प में ही बेच देता है।

मात्र द्रव्य से ही सन्तोष नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि द्रव्य-गुण से महत्ता नहीं; किन्तु निर्मल पर्याय से ही सच्ची महत्ता है। द्रव्य-गुण तो सिद्धों के और निगोदिया जीवों के दोनों के हैं। यदि द्रव्य-गुण से ही महत्ता मानी जाय तो निगोदियापन भी महिमावान क्यों न कहलायेगा ?

किन्तु नहीं, सच्ची महत्ता तो पर्याय से है। पर्याय की शुद्धता ही भोगने में काम आती है; इसलिये अपनी वर्तमान पर्याय में संतोष न मानकर पर्याय की शुद्धता को प्रगट करने के लिये पवित्र सम्यक्त्व प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।

अहो ! मिथ्यात्व अवस्था में अभी पर्याय में पूर्ण पामरता है, अतः मिथ्यात्व को इसी क्षण वमन कर डालने की आवश्यकता है। जबतक यह मिथ्यात्व रहेगा तबतक तत्त्व की बात न तो रुचेगी और पचेगी। जीव को जब तक अपनी पर्याय की पामरता भासित नहीं होती, तबतक उसकी दशा सम्यक्त्व के सन्मुख भी नहीं है।

परिणामों में अनेकप्रकार का झंझावात आ रहा हो; सहजरूप से आनन्द भाव होने की जगह मात्र भय और आशंका के झोंके आते हों, प्रत्येक क्षण की परिणति विकार के मार से नीचे दब रही हो, फिर भी अपने को सम्यग्दृष्टि मान लेना मिथ्या दम्भ है, अज्ञानता है और घोरवंचना है।

केवली प्रभु का आत्मपरिणमन सहजरूप से केवलज्ञानमय परम सुखदशारूप ही हो रहा है। सहजरूप से परिणमन होने वाले केवलज्ञान का मूल कारण सम्यक्त्व ही है, तब फिर उस सम्यक्त्व सहित जीव का परिणमन कितना सहज होगा। उसकी आत्म-जागृति निरन्तर कैसी प्रवर्तमान होगी।

जो अल्पकाल में केवलज्ञान जैसी परम सहजदशा की प्राप्ति कराता है, ऐसे इस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को अपने मन की परिकल्पना द्वारा कल्पित कर लेने से अनन्त केवली भगवन्तों का और सम्यग्दृष्टियों का घोर अनादर है ?

सम्यक्त्वदशा की प्रतीति में पूरा आत्मा आ जाता है, उस सम्यक्त्व-दशा के होने पर निज को आत्मसाक्षी से संतोष होता है, निरन्तर आत्मजागृति रहती है, कभी भी उसकी आत्मपरिणति फँसती नहीं है, उसके भावों में कदापि आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आत्म

समर्पणता नहीं आ पाती; जहाँ ऐसी दशा की प्रतीति भी न हो वहाँ सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता।

बहुत से जीव तो कुधर्म में ही अटके हुए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो परम सत्यस्वरूप को सुनने के बावजूद भी विकल्पज्ञान से जानते हुए भी यही सत्य है, ऐसी प्रतीति न करके तथा अपना आन्तरिक परिणमन तद्रूप किये बिना ही सम्यक्त्व की पवित्र आराधना की अपूर्णता में ही संतोष मान लेते हैं, वे भी तत्त्व का अपूर्व लाभ नहीं पा सकते।

इसलिए अब आत्मकल्याण के हेतु यह निश्चय करना चाहिए कि अपनी वर्तमान में हो रही दशा कैसी है ? यदि उसमें भ्रम है तो उसे दूर करके रत्नत्रय की आराधना में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिए। यही परम पावन कार्य है।

सम्यग्दृष्टि जीव के सदा स्वरूपजागृति रहती है। सम्यक्त्व होने के पश्चात् चाहे जिस परिस्थिति में रहते हुए भी उस जीव के स्वरूप की अनाकुलता का आंशिक वेदन तो हुआ ही करता है; किसी भी परिस्थिति में पर्याय की ओर का वेग ऐसा नहीं होता कि जिससे निराकुल स्वभाव के वेदन को बिल्कुल ढंककर मात्र आकुलता का वेदन होता रहे। सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्षण निराकुल स्वभाव और आकुलता के बीच भेदज्ञान रहता है और उसके फलस्वरूप वह प्रतिक्षण निराकुल स्वभाव का आंशिक वेदन करता है। ऐसा चौथे गुणस्थान में रहनेवाले धर्मात्मा का स्वरूप है। बाह्य क्रियाओं पर से स्वरूप जागृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अज्ञानी जीव बाह्य से शांत बैठा दिखाई देता है; तथापि अंतरंग में तो वह विकार में ही लवलीन होने से आकुलता ही भोगता है। उसे किंचित् स्वरूप जागृति नहीं है। और ज्ञानी जीव को युद्ध समय भी अंतरंग में विकारभाव के साथ तन्मयता नहीं रहती। इससे उस समय भी उसे आकुलता रहित आंशिक शांति का वेदन होता है। इतनी स्वरूप जागृति तो धर्मात्मा के रहती ही है। ऐसी स्वरूप जागृति ही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं।

आचार्यदेव सम्यग्दर्शन पर जोर देकर कहते हैं कि हे भाई ! तुझसे अधिक न हो तो थोड़े में थोड़ा प्रयास अवश्य रखना। यदि तू इससे भ्रष्ट हो गया तो किसी भी प्रकार तेरा कल्याण नहीं होगा। चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन में अल्प पुरुषार्थ है, इसलिए सम्यग्दर्शन अवश्यक करना। सम्यग्दर्शन का ऐसा स्वभाव है कि जो जीव उसे धारण करते हैं, वे जीव क्रमशः शुद्धता की वृद्धि करके अल्पकाल में ही मुक्तदशा प्राप्त कर लेते हैं, वह जीव को अधिक समय तक संसार में नहीं रहने देता। आत्मकल्याण का मूल कारण सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता पूर्ण मोक्षमार्ग है। हे भाई ! यदि तुझसे सम्यग्दर्शनपूर्वक राग को छोड़कर चारित्रदशा प्रगट हो सके तो बहुत ही अच्छी बात है, यही करने योग्य है; किन्तु यदि तुझसे चारित्रदशा प्रगट न हो सके तो कम से कम आत्मस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य करना, इस श्रद्धा मात्र से भी अवश्य कल्याण होगा।

मात्र सम्यग्दर्शन से भी तेरा आराधकत्व चलता रहेगा। वीतरागदेव के कहे हुए व्यवहार का विकल्प भी हो तो उसे भी बंधन मानना। भले ही पर्याय में राग होता हो; तथापि ऐसी प्रतीति रखना कि राग मेरा स्वभाव नहीं है और इस राग के द्वारा मुझे धर्म नहीं होगा – ऐसे रागरहित स्वभाव की श्रद्धा सहित यदि चारित्रदशा हो सके तो वह प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाना, किन्तु यदि ऐसा न हो सके और राग रह जाये तो उस राग को मोक्ष का हेतु नहीं मानना, रागरहित अपने चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा रखना।

प्रश्न :– जबतक पर्याय में राग हो तबतक रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? पहले राग दूर हो, फिर राग रहित स्वभाव की श्रद्धा हो ?

उत्तर :– हे जीव ! तू पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देख तो तुझे रागरहित अपने स्वरूप का अनुभव हो जायेगा। जिससमय क्षणिक पर्याय में राग है, उसीसमय रागरहित त्रिकाली स्वभाव भी है,

इसलिए पर्यायदृष्टि छोड़कर तू अपने रागरहित स्वभाव की ही प्रतीति रखना। इस प्रतीति के बल से अल्पकाल में राग दूर हो जायेगा, किन्तु इस प्रतीति के बिना कभी भी राग नहीं टल सकेगा।

'मैं रागी हूँ' रागीपन के अभिप्राय से (विकार के लक्ष्य से, पर्यायदृष्टि से) जो परिणमन होता है, उसमें राग की उत्पत्ति हुआ करती है; किन्तु राग दूर नहीं होता। इससे पर्याय में राग होने पर भी उसीसमय पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावदृष्टि से रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करना आचार्य भगवान बतलाते हैं और यही मोक्षमार्ग का क्रम है।

आत्मार्थी का यह प्रथम कर्तव्य है कि यदि पर्याय में राग दूर होकर संयम हो सके, तब तो अति उत्तम बात है; किन्तु यदि संयम न हो सके तो भी 'मेरा स्वरूप रागरहित है– ऐसी श्रद्धा अवश्य करना चाहिए।' आचार्यदेव कहते हैं कि – यदि तुझसे चारित्र नहीं हो सकता तो श्रद्धा में टालमटोल तो मत कर ! अपने स्वभाव को अन्यथा तो नहीं मान।

हे जीव ! तू अपने स्वभाव को स्वीकार कर, स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही मान। जिसने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके सम्यग्दर्शन को टिका रखा है, वह जीव अल्पकाल में ही स्वभाव के बल से स्थिरता प्रगट करके मुक्त हो जायेगा।

मुख्यतः पंचमकाल के जीवों से आचार्यदेव कहते हैं कि –इस दग्ध पंचमकाल में तुम शक्तिसहित हो, किन्तु तब भी केवल शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान तो अवश्य करना। यद्यपि इस पंचमकाल में साक्षात् मुक्ति नहीं है, फिर भी भवभय को नाश करनेवाले अपने वीतरागस्वभाव की श्रद्धा करना बुद्धिमान जीवों का कर्तव्य है; क्योंकि अपने भवरहित स्वभाव की श्रद्धा से तो अल्पकाल में ही भवरहित हो जायेगा। इसलिए हे भाई ! सबसे पहले तू किसी भी तरह प्रयत्न करके परम पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट कर !

प्रश्न :– आप सम्यग्दर्शन का अपार माहात्म्य बतलाते हैं यह तो ठीक है, यही करने योग्य है, यह भी ठीक है; किन्तु यदि उसका स्वरूप समझ में न आये तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का दूसरा कोई उपाय तीन काल, तीन लोक में नहीं है, इसलिए जबतक सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में न आये, तबतक उसका ही अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। आत्मस्वभाव की यथार्थ रुचि हुई है और सम्यग्दर्शन की अभिलाषा हुई है तो तेरा समझने का प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायेगा। स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव सत् के समझने का अभ्यास करता है उस जीव के प्रतिक्षण मिथ्यात्व की मन्दता होती है। एक क्षण भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, किन्तु प्रतिक्षण उसका कार्य होता ही रहता है। स्वभाव की प्रतीति से जीव के ऐसी निर्जरा प्रारम्भ होती है, जो कभी अनन्तकाल में भी नहीं हुई थी। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है कि इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी जिस जीव ने प्रसन्न चित्त से सुनी है, वह मुक्ति के योग्य है।

परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव ऐसा मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसके सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रत, समिति इत्यादि का पालन करे तो भी स्व-पर का ज्ञान न होने से पापी ही है। मुझे बन्ध नहीं होता, यों मानकर जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं उनके भला सम्यग्दर्शन कैसा ?

प्रश्न :– व्रत, समिति का पालन करना तो शुभ कार्य है, इनके पालन करनेवाले जीवों को पापी क्यों कहा ?

उत्तर :– सिद्धान्त में मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा है। अतः जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक शुभ-अशुभ सर्वक्रिया को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा गया है। फिर व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने के लिए शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य अथवा धर्म तक कह दिया है। ऐसा

कहने से स्याद्वाद मत मे कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न :– ये महापाप कैसे टले?

उत्तर :– सच्चे देव, गुरु, धर्म के लिये तन, मन, धन सर्वस्व समर्पित करे तथा शिरच्छेद होने पर भी कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को न माने एवं कोई शरीर को जला दे तो भी मन में क्रोध न करे और परिग्रह में वस्त्र का एक तार भी न रखे, तथापि आत्मा की पहिचान के बिना जीव की दृष्टि पर के ऊपर और शुभ राग पर रह जाती है, इसलिये उसका मिथ्यात्व का महापाप दूर नहीं होता। स्वभाव को और राग को उनके निश्चित लक्षणों के द्वारा भिन्न-भिन्न जान लेना ही सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण है। निमित्त का अनुसरण करनेवाला भाव और उपादान का अनुसरण करने वाला भाव दोनों भिन्न-भिन्न हैं। प्रारम्भ में कथित सभी भाव निमित्त का अनुसरण करते हैं। निमित्त के बदल जाने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु निमित्त की ओर के लक्ष को बदलकर उपादान में लक्ष करे तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त के लक्ष से बन्ध है और उपादान के लक्ष से मुक्ति होती है।

एक मात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्तकाल में सब कुछ कर चुका है, लेकिन सम्यग्दर्शन कभी एक क्षणमात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक क्षणमात्र भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसको मुक्ति हुए बिना न रहे।

यहाँ आत्मकल्याण का उपाय बताते हैं। विकल्पमात्र का अवलंबन छोड़कर जबतक जीव शुद्धात्मस्वभाव का अनुभव न करे तबतक उसका कल्याण नहीं होता। शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव किये बिना जीव जो कुछ भी करता है; वह सब व्यर्थ है, उससे आत्मकल्याण नहीं होता।

कई जीव यह मानते हैं कि हमें पांच लाख रूपया मिल जाये तो हम सुखी हो जायें। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई ! क्या रुपयों में आत्मा का सुख है ? रुपया तो जड़ है, वे कहीं आत्मा में प्रवेश नहीं कर जाते और उनमें कहीं आत्मा का सुख नहीं है। सुख तो आत्मस्वभाव

में है।

आत्म-प्रतीति के बिना व्रत-तपादि से तो आत्मा को बन्धन होता है और उसमें धर्म मानने से मिथ्यात्व की पुष्टि होती है; आत्मानुभव के बिना किसी भी प्रकार सुख नहीं, धर्म नहीं और कल्याण नहीं होता।

किसी जीव ने शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मा को जान लिया अर्थात् शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर यह जाना कि मैं शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूप में राग-द्वेष नहीं है, आत्मा परद्रव्य से भिन्न हैं और पर का कुछ नहीं कर सकता, तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि ! यह तो पर के लक्ष से जानना हुआ। स्वसन्मुख पुरुषार्थ के द्वारा विकल्प का अवलम्बन तोड़कर जबतक स्वयं स्वानुभव न करे तबतक जीव को सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

समयसार की 141वीं गाथा में कहा है कि जीव में कर्म बंधा हुआ है –ऐसा व्यवहार नय का कथन है। जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है – ऐसा निश्चय नय का पक्ष है। जो आत्मा इन दोनों नयों को पार कर चुका है, वही समयसार है।

जबतक वह विकल्प के अवलम्बन में रुका रहेगा, तबतक धर्म नहीं है, इसलिये जैसा स्वभाव है वैसा ही अनुभव कर ! अनुभव करनेवाली पर्याय स्वयं द्रव्य में लीन एकाकार हो जाती है और उस समय विकल्प टूट जाता है; ऐसी दशा ही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन है; वही सम्यग्ज्ञान है।

परवस्तु में सुख है या मैं पर का कार्य कर सकता हूँ और मेरा कार्य पर से होता है – यह स्थूल मान्यता है और आत्मा को अमुक वस्तु खपती है, अमुक नहीं खपती, ऐसा विकल्प भी स्थूल परिणाम है, उसमें धर्म नहीं है और मैं शुद्ध आत्मा हूँ तथा राग मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसे राग मिश्रित विचार करना भी धर्म नहीं है। इस राग का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वभाव का अनुभव करना सो धर्म है। एक बार विकल्प उठते हैं उन विकल्पों में सम्यग्दृष्टि जीव को एकत्वबुद्धि

नहीं होती, इसलिये वे विकल्प तो मात्र अस्थिरतारूप दोष है, परन्तु वे सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान को मिथ्या नहीं करते; क्योंकि विकल्प के समय भी सम्यग्दृष्टि उनका निषेध करता है।

प्रश्न :– जब जीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है और आत्मा की प्रतीति हो जाती है तो फिर उसे खाने–पीने इत्यादि का राग कैसे होता है ? उसकी दृष्टि में राग तो हेय हो जाता है न ?

उत्तर :– राग चारित्र गुण का विकार है, समकिती के अभी मात्र श्रद्धा व ज्ञान निर्मल हुआ है, अतः सम्यग्दृष्टि के राग होता है। उस राग के समय ही उसके निषेधक सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान भी तो होते हैं। यद्यपि ज्ञानी को चारित्र की कचाई से राग होता तो है; परन्तु वह राग श्रद्धा-ज्ञान को मलिन नहीं करता।

मिथ्यादृष्टि जीव जबतक स्वभाव का अनुभव करने के लिये ऐसा विचार करता है कि स्वभाव से मैं अबन्ध और निर्दोष तत्त्व हूँ मात्र पर्यायदृष्टि से बंधा हुआ हूँ इसप्रकार मन के अवलम्बन से तथा शास्त्र के लक्ष से वह रागरूप वृत्ति को तोड़कर जबतक वह अनुभव नहीं कर पाता, तबतक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर के अवलम्बन में अटककर धर्म मानना मिथ्यादृष्टि का काम है। राग मात्र का अवलम्बन छोड़कर स्वभाव के आश्रय से निर्णय और अनुभव करना सम्यग्दृष्टि का धर्म है और उसके बाद ही चारित्रदशा होती है। राग का अवलम्बन तोड़कर आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव न करे और दान, दया, शील, तप इत्यादि सब करता रहे तो वह सब राग है, इसमें धर्म नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, राग स्वरूप नहीं है। ज्ञानस्वरूप में वृत्ति का उत्थान ही नहीं है। 'मैं त्रिकाल अबन्ध हूँ' – ऐसा विकल्प भी ज्ञानस्वरूप में नहीं है। यद्यपि निश्चय से आत्मा त्रिकाल अबन्धरूप ही है; परन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्प का अवलम्बन अबन्धस्वभाव की श्रद्धा के नहीं है। विकल्प तो राग है, विकार है वह आत्मा नहीं है,

उस विकल्प के अवलम्बन से आत्मानुभव नहीं होता।

'मैं अबन्धस्वरूप हूँ' ऐसे विचार का अवलम्बन निश्चयनय का पक्ष है और 'मैं बंधा हुआ हूँ' ऐसे विचार का अवलम्बन व्यवहार का पक्ष (राग) है। यह नयपक्ष बुद्धि मिथ्यात्व है। इस विकल्परूप निश्चयनय का पक्ष जीव ने पहले अनन्त बार किया है, परन्तु स्वभाव का आश्रयरूप निश्चयनय कभी प्रगट नहीं हुआ।

समयसार की 11वीं गाथा के भावार्थ में कहा है कि 'शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं हुआ' यहाँ 'शुद्धनय का पक्ष' कहा है, वह मिथ्यात्वरूप या रागरूप नहीं है; क्योंकि त्रिकाल शुद्धस्वभाव का आश्रय करना सो उसे ही वहाँ 'शुद्धनय का पक्ष' कहा है और वही सम्यग्दर्शन है। वहाँ जिसे शुद्धनय का पक्ष कहा है उसे यहाँ नयातिक्रांत कहा है और वह मुक्ति का कारण है।

यद्यपि शुद्धस्वभाव का आश्रय करना सम्यग्दर्शन है, किन्तु 'मैं शुद्धस्वभावी हूँ', ऐसे विकल्प के साथ एकत्वबुद्धि करना मिथ्यात्व है। आत्मा रागस्वरूप है – ऐसा मानना एकान्त व्यवहार का पक्ष है। अतः स्थूल मिथ्यात्व है और आत्मा शुद्धस्वरूप है ऐसे विकल्प में अटकना विकल्पात्मक निश्यनय का पक्ष है, राग का पक्ष है। आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसे विकल्प के अवलम्बन से आत्मा का विचार किया तो उससे क्या ? आत्मा का स्वभाव वचनातीत, विकल्पातीत है। आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण स्वभावी है, वह स्वभाव निज से ही है, शास्त्राधार से या विकल्प के आधार से वह स्वभाव नहीं है और इसलिये उस स्वभाव का अनुभव (निर्णय) करने के लिए किसी शास्त्र आधार या विकल्प के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वभाव के ही आश्रय की आवश्यकता है। स्वभाव का अनुभव करते हुए 'मैं शुद्ध हूँ' इत्यादि विकल्प आ जाता है, परन्तु जबतक विकल्प में लगा रहता है, तबतक अनुभव नहीं होता। यदि विकल्प को तोड़कर नयातिक्रांत होकर स्वभाव का आश्रय करे तो जो सम्यक्-निर्णय और अनुभव हो वही धर्म है।

जैसे तिजोरी में रखे हुए एक लाख रुपये बहीखाते के हिसाब की अपेक्षा से या गिनती के विचार के कारण स्थित नहीं हैं, किन्तु जितने रुपये हैं, वे स्वयं ही हैं; इसप्रकार आत्मस्वभाव का अनुभव शास्त्र के आधार से अथवा उसके विकल्प से नहीं होता, अनुभव तो स्वभावाश्रित है। वास्तव में स्वभाव और स्वभाव की अनुभूति अभिन्न होने से एक ही है, भिन्न नहीं है। दूसरी ओर यदि किसी के पास रुपया–पैसा (पूँजी) तो न हो; किन्तु वह मात्र बहीखाता लिखा करे और विचार करता रहे– यों ही गिनता रहे तो उससे कहीं उसके पास पूँजी नहीं हो जाती, इसप्रकार आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना मात्र शास्त्रों के पठन-पाठन से अथवा आत्मा सम्बन्धी विकल्प करने से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हो जाता।

'शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव सिद्ध के समान शुद्ध कहा है' इसप्रकार जो शास्त्रों से माने उसके यथार्थ निर्णय नहीं होता। शास्त्रों में कहा है; इसलिये आत्मा शुद्ध है – ऐसी बात नहीं है; आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, उसे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है, इसलिये स्वभाव के ही आश्रय से स्वभाव का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है।

आत्मस्वभाव का अनुभव किये बिना कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थ पढ़ लिये तो इससे क्या ? और आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ डाले तो भी क्या? इनमें से आत्मधर्म का लाभ नहीं होता। आत्मा करता है, अतः वह कैसा कर्म करे, कैसा कार्य करे कि उसे धर्मलाभ हो; यह बात कर्ता-कर्म अधिकार में बताई है। आत्मा जड़कर्म को बांधे और कर्म आत्मा के लिये बाधक हों – यह बात तो यहाँ है ही नहीं और 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा जो मन का विकल्प है वह धर्मात्मा का कार्य नहीं है। स्वभाव का अनुभव स्वभाव के ही आश्रय से होता है, इसलिये शुद्ध स्वभाव का आश्रय ही धर्मात्मा का कार्य है।

पुण्य करते-करते आत्मा की पहिचान हो जाती है या अच्छे निमित्तों के अवलम्बन से आत्मा को धर्म में सहायता मिलती है – ऐसी स्थूल मिथ्यामान्यता तो सम्यग्दर्शन से बहुत दूर है। दया, दान, भक्ति,

उपवास, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और शास्त्रों का ज्ञान यह सब वास्तव में राग के मार्ग हैं, शुभराग के निमित्त हैं। उनमें से किसी के भी आश्रय से आत्मस्वभाव का निर्णय नहीं होता; क्योंकि आत्म-स्वभाव का निर्णय तो अरागी श्रद्धा-ज्ञान रूप है, वीतराग चारित्रदशा प्रगट होने से पूर्व वीतराग श्रद्धा और वीतराग ज्ञान के द्वारा स्वभाव का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और ऐसा अनुभव करनेवाला जीव ही समयसार है। ऐसा अनुभव प्रगट नहीं किया और उपर्युक्त दया, दान, भक्ति, व्रत, यात्रा इत्यादि सब कुछ किया तो इससे क्या? ऐसा तो अभव्य जीव भी करते हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर वह जीव निकट भविष्य में ही अवश्यमेव सिद्ध हो जायेगा। वर्तमान में ही अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि जीव कृतकृत्य हो जाता है और पर्याय में प्रतिक्षण वीतराग आनन्द की वृद्धि होती जाती है। वे स्वप्न में भी परपदार्थ को अपना नहीं मानते और पर में या विकार में सुखबुद्धि नहीं होती। सम्यग्दर्शन की ऐसी अपार महिमा है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना समस्त श्रम व्यर्थ है, अरण्यरोदन के समान है, बिना इकाई के शून्य समान है। यह सम्यग्दर्शन किसी भी पर के आश्रय से या विकल्प के अवलम्बन से नहीं होता; किन्तु अपने शुद्धात्म-स्वभाव के ही आश्रय से होता है। स्वभाव का आश्रय लेते ही विकल्प का आश्रय छूट जाता है; किन्तु विकल्प के लक्ष से विकल्प के आश्रय को दूर करना चाहे तो वह दूर नहीं हो सकता।

धर्मी जीव का धर्म स्वभाव के आश्रय से स्थिर है। उसके सम्यग्-दर्शनादि धर्म को किसी पर का आश्रय नहीं है। जब कि यह बात है तब धर्मी जीव के यदि रुपया-पैसा मकान इत्यादि का संयोग न हो तो भी उसे अधिक आकुलता नहीं होती। और यदि बहुत से शास्त्रों का ज्ञान न हो तो भी आकुलित नहीं होता। धर्मी जीव के यह सब न हों तो इससे कहीं उसके धर्म में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि धर्मी का धर्म

किसी पर के, राग के अथवा शास्त्रज्ञान के आश्रय पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु अपने त्रिकालस्वभाव के ही आधार पर धर्मी का धर्म प्रगट हुआ है और उसी के आधार पर टिका हुआ है और उसी के आधार पर वृद्धिंगत होकर पूर्णता को प्राप्त होता है।

गुण-पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है। आत्म-द्रव्य अपने स्वभाव से टिका हुआ है, राग के कारण नहीं। आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है और राग के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। त्रिकाल द्रव्यस्वरूप को स्वीकार किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; क्योंकि पर्याय तो एक समयमात्र की ही होती है और दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है, इसलिये पर्याय के लक्ष से एकाग्रता या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। केवलज्ञान भी एक समय मात्र की पर्याय है; परन्तु ऐसी अनन्तानन्त पर्यायों को अभेदरूप से संग्रह करके द्रव्य विद्यमान है अर्थात् अनन्त केवलज्ञान पर्यायों को प्रगट करने की शक्ति द्रव्य में है, इसलिये केवलज्ञान की महिमा से द्रव्यस्वभाव की महिमा अनन्तगुणी है।

इसके समझने का प्रयोजन यह है कि पर्याय में एकत्वबुद्धि छोड़कर द्रव्यस्वभाव में एकत्वबुद्धि करना है। एकत्वबुद्धि का अर्थ 'मैं यही हूँ' – ऐसी मान्यता है। त्रिकाल द्रव्य के लक्ष से 'यही मैं हूँ'– इसप्रकार द्रव्य- स्वभाव की प्रतीति सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञानादि कोई भी पर्याय एक- समयमात्र की अस्तिरूप है, दूसरे समय में उसकी नास्ति हो जाती है; इसलिये आत्मा को पर्याय जितना मानने से सम्यग्दर्शन नहीं होता और जो द्रव्यस्वभाव है, वह त्रिकाल एक रूप सत् अस्तिरूप है। केवलज्ञान प्रगट हो या न हो इसकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है, उस स्वभाव को मानने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं होती; वह द्रव्य में से ही होती है अर्थात् एक पर्याय स्वयं दूसरी पर्याय के रूप में परिणमित नहीं होती; किन्तु क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी पर्याय के रूप में परिणमित नहीं होती; किन्तु क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी पर्याय के रूप में द्रव्य का

ही परिणमन होता है; इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड़कर द्रव्यदृष्टि के करने से ही शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय खण्ड-खण्डरूप है, वह सदा एक समान नहीं रहती और द्रव्य अखण्डरूप है वह सदा एक समान रहता है। इसलिए द्रव्यदृष्टि से शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल है; त्रैकालिक के लक्ष से ही एकाग्रता हो सकती है और धर्म प्रगट होता है। क्षणिक के लक्ष से एकाग्रता नहीं होती तथा धर्म प्रगट नहीं होता। पर्याय क्रमवर्ती स्वभाववाली होती है; इसलिए वह एक समय में एक ही होती है और द्रव्य अक्रमवर्ती स्वभाववाला अनन्त पर्यायों का अभिन्न पिण्ड है, जोकि प्रतिसमय परिपूर्ण है; छद्मस्थ के वर्तमान पर्याय अपूर्ण है और द्रव्य पूर्ण है, इसलिए परिपूर्णता के लक्ष से ही सम्यग्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है; अपूर्णता के लक्ष से सम्यग्दर्शन या वीतरागता प्रगट नहीं होती, परन्तु उल्टा राग उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जीव को परिपूर्णता के लक्ष से ही क्रमशः चारित्र-वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होती है। मुमुक्षुओं को उपर्युक्त के अनुसार द्रव्य और पर्याय का यथार्थ ज्ञान करके त्रिकाल द्रव्यस्वभाव की ओर रुचि (उपादेयबुद्धि) करके उसी में एकता करनी चाहिए और पर्याय की एकत्वबुद्धि छोड़ देनी चाहिए। यही धर्म करने का उपाय है।

जिसके पर्यायदृष्टि होती है वह जीव राग को अपना कर्तव्य मानता है और राग से धर्म होना मानता है; क्योंकि पर्यायदृष्टिवाला जीव परद्रव्यों के लक्ष से परद्रव्यों का भी अपने को कर्ता मानता है – इसी का नाम मिथ्यात्व है, यही अधर्म है।

किन्तु जिसकी दृष्टि द्रव्य स्वभाव की हो गई है वह जीव कभी राग को अपना कर्तव्य नहीं मान सकता और न उसमें धर्म ही मानता है, क्योंकि स्वभाव में राग का अभाव है। जो पर्याय के राग का कर्तृत्व भी नहीं मानता वह परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे मानेगा ? अर्थात् उसके

पर से और राग से भिन्न स्वभाव की दृष्टि में ज्ञान और वीतरागता की ही उत्पत्ति हुआ करती है – इसी का नाम सम्यग्दृष्टि है और यही धर्म है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

इसलिए सभी आत्मार्थी जीवों को अध्यात्म के अभ्यास के द्वारा द्रव्यदृष्टि करनी चाहिए यही प्रयोजनभूत है। द्रव्यदृष्टि कहो, शुद्धनय का अवलम्बन कहो अथवा निश्चयनय का आश्रय कहो सब एक ही बात है।

मिथ्यात्व में दो शब्द हैं – पहला मिथ्यात्व अर्थात् असत् और दूसरा 'त्व' अर्थात् पन। इसप्रकार खोटापन, विपरीतता, असत्यता इत्यादि मिथ्यात्व के अर्थ होते हैं।

यहाँ पर यह देखना है कि जीव में निज मिथ्यात्व या विपरीतता क्या है; क्योंकि जीव अनादिकाल से दुःख भोगता रहा है और वह उसे अनादिकाल से मिटाने का प्रयत्न भी करता रहा है; किन्तु वह न तो मिटा है और न कम हुआ। वह दुःख अनेकप्रकार का है। पूर्ण पुण्य के योग से किसी एक सामग्री का संयोग होने पर उसे ऐसा लगता है कि – मानो एक प्रकार का दुःख कम हो गया है; किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो सचमुच उसका दुःख कम नहीं हुआ है; क्योंकि जहाँ एकप्रकार का दुःख गया नहीं कि तत्काल दूसरे प्रकार का दुःख उत्पन्न हो जाता है।

मूल में भूल के बिना दुःख नहीं होता। दुःख है इससे सिद्ध है कि कहीं न कहीं भूल है। भूल ही इस महादुःख का कारण है। यदि वह भूल छोटी हो तो दुःख कम और अल्पकाल के लिए होता है; किन्तु यह मिथ्या मान्यता की भूल बहुत बड़ी भूल है; इसलिए दुःख भी बड़ा और अनादिकाल से है और अनन्त है, इसलिए यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व अर्थात् जीव संबंधी विपरीत समझ-भूल सबसे बड़ी और अनन्ती है। यदि भयंकर भूल न होती तो भयंकर दुःख न होता। महान भूल का महान दुःख है, इसलिए महान दुःख को दूर करने का सच्चा उपाय उस महान भूल का दूर करना है। □

गृहीत मिथ्यात्व

निगोद से निकले हुये जीव को कभी मन्दकषाय से मन प्राप्त हुआ और वह संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ, उसको विचारशक्ति प्राप्त हुई और वह ऐसा सोचने लगा कि मेरा दुःख कैसे मिटे ? यह विचार किया, इसका निश्चय करने के लिये दूसरे से सुना अथवा स्वयं पढ़ा, वहाँ उल्टा नया भ्रम उत्पन्न हो गया। इससे वह ईश्वर के सम्बन्ध में यों मानने लगा कि जगत में सब मिलकर एक ही ब्रह्मस्वरूप जीव है, शेष सब भ्रम है भगवान की कृपा से हम तर जायेंगे या किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जायेगा अथवा वस्तु को क्षणिक मानकर वस्तुओं का त्याग करें तो लाभ होगा अथवा मात्र जैनधर्म ने ही सच्चाई का ठेका नहीं लिया, जगत के अन्य सभी धर्म भी सच्चे हैं; इसप्रकार अनेक तरह के बाहर के नये-नये भ्रम ग्रहण किये; परन्तु भाई ! जैसे एक और एक मिलकर दो होते हैं, यह त्रिकाल सत्य है, उसीप्रकार जो वस्तुस्वभाव या वस्तुधर्म वीतराग-विज्ञानी ने कहा है; वही त्रिकाल सत्य है, अन्य कोई कथन सत्य नहीं है।

जन्म के बाद अनेकप्रकार की नई विपरीत मान्यतायें ग्रहण कीं, उसी को गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं और उसे ही लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता कहा जाता है।

लोकमूढ़ता – पूर्वजों ने अथवा कुटुम्ब के बड़े लोगों ने जो रूढ़ियों के रूप में धर्मक्रियायें कीं, वे मुझे भी वैसी ही करना चाहिये, पर स्वयं विचार–शक्ति से यह निश्चय नहीं किया कि सत्य क्या है ? इसप्रकार लोकमूढ़ता में व्यक्ति अपने को जो विचार करने की शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही करता है, जिसके फलस्वरूप उसकी विचारशक्ति का घात हुये बिना नहीं रहता। मन्दकषाय के फलस्वरूप विचारशक्ति प्राप्त कर लेने पर भी उसका सदुपयोग न करके अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के साथ नया भ्रम उत्पन्न करना और उसे पुष्ट करना; उसके फलस्वरूप जीव को

ऐसी हलकी दशा प्राप्त होती है, जहाँ विचार-शक्ति का नितान्त अभाव है। अपनी विचार-शक्ति को गिरवी रखकर सैनी जीव भी धर्म के नाम पर इसप्रकार अनेक तरह की विपरीत मान्यताओं को पुष्ट किया करते हैं। हमारे बाप-दादा जिस देव को मानते हैं तो हम भी उन्हें ही मानेंगे। भले ही वह कुदेव हो या सुदेव। इसप्रकार अपने मन की शक्ति का घात करके स्वयं अपने लिये निगोद की तैयारी करते हैं। जैसे निगोदिया जीव को विचार–शक्ति नहीं होती, वैसे गृहीत मिथ्यात्वी जीव अपनी विचार-शक्ति का दुरुपयोग करके उसका घात करता है और उस निगोद की तैयारी करता है, जहाँ विचार-शक्ति का सर्वथा अभाव है।

देवमूढ़ता – सच्चे धर्म को समझानेवाला कौन हो सकता है? ऐसी विचार-शक्ति होने पर भी देवमूढ़तावाला उसका निर्णय नहीं करता।

निज को विपरीत ज्ञान है; इसलिये जिन्हें यथार्थ पूर्णज्ञान हुआ है ऐसे दिव्य शक्तिवाले सर्वज्ञदेव के पास से सच्चाज्ञान प्राप्त हो सकता है; किन्तु जीव उन्हें नहीं पहचानता और सर्वज्ञदेव के सम्बन्ध में मूर्खता धारण करता है; इसप्रकार सच्चे देव के सम्बन्ध में भी अपनी विचार-शक्ति का दिवाला पीटता है – यही देवमूढ़ता है।

सम्यक्श्रद्धा के संदर्भ में देव का अर्थ पुण्य के फल से प्राप्त स्वर्ग के देव नहीं; किन्तु ज्ञान की दिव्यशक्ति धारण करनेवाले सर्वज्ञदेव हैं।

गुरुमूढ़ता – बीमार आदमी इस सम्बन्ध में खूब विचार करता है और परिश्रम क़रके यह ढूंढ निकालता है कि किस डाक्टर की दवा लेने से रोग दूर होगा। लोग कुम्हार के पास दो टके की हँडी लेने जाते हैं तो उसको भी खूब ठोक बजाकर परीक्षा करके लेते हैं; इसीप्रकार और भी अनेक सांसारिक कार्यों में परीक्षा की जाती है, किन्तु यहाँ पर आत्मा के अज्ञान का नाश करने के लिये कौन गुरु निमित्त हो सकता है ? – इसकी परीक्षा के द्वारा निर्णय करने में विचार-शक्ति को नहीं

लगाता और जैसा पिताजी ने कहा है अथवा कुलपरम्परा से जैसा चला आ रहा है, उसी का अन्धानुसरण करता है – यही गुरुमूढ़ता है।

इसप्रकार जीव प्रथम तो विचार-शक्ति का उपयोग ही नहीं करता और यदि उपयोग करता भी है तो उपर्युक्त लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता से तीन प्रकार से लुट जाता है। स्कूलों और पाठशालाओं में भी अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्यादि पालन करने को कहा जाता है तो वहाँ के अध्यापक भी धर्मगुरु कहलायेंगे और वहाँ की पुस्तकें धर्म-शास्त्र कहलायेंगी; किन्तु ऐसा नहीं होता। धर्म का स्वरूप अपूर्व है।

तीनप्रकार की मूढ़ताओं में गुरुमूढ़ता विशेष है, उसमें धर्म के नाम पर स्वयं अधर्म करता हुआ भी जीव धर्म मानता है। उदाहरण के रूप में दुकान में बैठा हुआ आदमी यह नहीं मानता कि मैं अभी सामायिक धर्म करता हूँ; किन्तु धर्मस्थान में जाकर अपने माने हुये गुरु अथवा बड़े लोगों के कथनानुसार अमुक शब्द बोलता है, जिनका अर्थ भी स्वयं नहीं जानता और उसमें वह जीव मान लेता है कि मैंने सामायिक धर्म किया। यदि शुभभाव हो तो पुण्य हो; किन्तु उस शुभ में धर्म माना अर्थात् अधर्म को धर्म माना; यही मिथ्यात्व है।

स्वयं विचार-शक्तिवाला होकर भी **नये–नये भ्रमों को पुष्ट करता रहता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है।** यहाँ पर मिथ्यात्व के संबंध में दो बातें कही गई हैं। (1) अनादिकाल से समागत पुण्य से धर्म होता है और मैं शरीर का कार्य कर सकता हूँ; इसप्रकार की जो विपरीत मान्यता है **सो अगृहीत मिथ्यात्व** है। (2) लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता के सेवन से कुदेव-कुगुरु के द्वारा जीव विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाला भ्रम ग्रहण करता है, **यही गृहीत मिथ्यात्व** है। सच्चे देव-धर्म की तथा अपने आत्मस्वरूप की सच्ची समझ के द्वारा इन दोनों मिथ्यात्वों को दूर किये बिना जीव कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता अतः मुमुक्षुओं को प्रथम भूमिका में ही गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग करना चाहिये।

मिथ्यात्व का अर्थ विपरीत मान्यता किया है। उसमें हमें यह नहीं देखना है कि पर में क्या यथार्थता है; किन्तु हमें तो यह देखना है कि अपने आत्मा में क्या अयथार्थता है अर्थात् क्या भूल है – यह समझकर अयथार्थ को दूर करके अपने में सच्ची समझ करना है।

प्रश्न :– मिथ्यात्व द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तर :– यह स्पष्टरूप से कहा गया है कि मिथ्यात्व श्रद्धागुण की एकसमय मात्र की विपरीत पर्याय है।

अपना स्वतंत्र चैतन्य आत्मा जैसा है उसे वैसा नहीं माना; किन्तु उसे जड़रूप माना इसकारण इस मान्यता में आत्मा के अनन्त गुणों का अनादर है।

1. यह शरीर जड़ है, अपना नहीं है, यह जानने-देखने का कोई कार्य नहीं करता; तथापि इसे अपना मानना मिथ्यात्व है।

2. शरीर को अपना मानने का अर्थ है कि – वर्तमान में शरीर जो देहरूप जन्म हुआ है वहाँ से मरण होने तक ही अपने आत्मा का अस्तित्व मानना अर्थात् शरीर का संयोग होने पर आत्मा की उत्पत्ति और शरीर का वियोग होने पर आत्मा का नाश मानना। यही मिथ्यात्व है।

3. शरीर को अपना मानने से जो बाह्य वस्तु शरीर को अनुकुल लगती है, उस वस्तु को लाभकारक मानता है और अपने लिए अनुकूल मानी गई वस्तु का संयोग पुण्य के निमित्त से होता है; इसलिए पुण्य से लाभ होना मानते हैं। उनकी दृष्टि देह पर है, आत्मा पर नहीं।

उपर्युक्त मान्यता अगृहीत मिथ्यात्व है। यह अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकाल से जीव के साथ चला आ रहा है। एकेन्द्रिय असैनी से पंचेन्द्रिय तक तो जीव को हिताहित का विचार करने की शक्ति ही नहीं होती। संज्ञी दशा में मन्दकषाय से ज्ञान के विकास से हिताहित का कुछ विचार करने की शक्ति प्राप्त होती है। वहाँ भी आत्मा के हित-अहित का कुछ विचार करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। विवेक

करने की जगह विपरीत मान्यता का भाव ही चालू रखकर नवीन मान्यताओं को ग्रहण करता है। अपनी विचार शक्ति के दुरुपयोग से तीव्र विपरीत मान्यताओं को ग्रहण करता है। इसप्रकार विचार-शक्ति के विकास होने पर जो नवीन विपरीत मान्यता ग्रहण की जाती है, उसे **गृहीत मिथ्यात्व** कहते हैं। उसके मुख्य तीन प्रकार हैं – देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्ममूढ़ता अर्थात् लोकमूढ़ता। इनकी चर्चा पीछे आ चुकी है।

ये तीन महा भूलें जीव के लिए बहुत बड़ी हानि का कारण हैं। स्वयं जिस कुल में जन्म लिया है, उस कुल में माने जानेवाले देव, गुरु, धर्म कदाचित् सच्चे हों और उन्हें स्वयं मानता भी हो, किन्तु जबतक उनकी स्वयं परीक्षा करके उनकी सत्यता का निश्चय नहीं कर लेता, तबतक गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता तथा गृहीत मिथ्यात्व को छोड़े बिना जीव को धर्म समझने की पात्रता नहीं आती। अतः सत्यासत्य का स्वयं निर्णय करना अनिवार्य है।

प्रश्न :– इन दो प्रकार के मिथ्यात्व में पहले कौन-सा मिथ्यात्व दूर होता है ?

उत्तर :– पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है; किन्तु गृहीत मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर भी अनेक जीवों के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र तथा लौकिक मूढ़ता की मान्यता का त्याग करके एवं देव, गुरु, शास्त्र, को पहिचानकर जीव ने व्यावहारिक स्थूल भूल का त्याग तो अनेक बार किया और असत् निमित्तों का लक्ष छोड़कर सत् निमित्तों के लक्ष से व्यवहार शुद्धि तो की, परन्तु अनादिकाल से चली आई अपनी आत्मासंबंधी महा भूल को जीव ने कभी दूर नहीं किया। यह अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व की यथार्थ समझ के बिना दूर नहीं हो सकता।

सच्चे निमित्तों को स्वीकार करके गृहीत मिथ्यात्व संबंधी व्यावहारिक असत्य का त्याग तो किया, किन्तु अपने निरालम्बी चैतन्य-

स्वरूप आत्मा को स्वीकार नहीं किया, इसलिये निश्चय से अगृहीत दूर नहीं हुआ। आत्मस्वरूप की खबर न होने से निमित्त के लक्ष से, शुभराग से, देव-गुरु-शास्त्र से अज्ञानी लाभ मानता है, यह पराश्रितता का अनादिकालीन भ्रम भूल में से दूर नहीं हुआ, इसलिये सूक्ष्म भूलरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। आत्मप्रतीति के बिना थोड़े समय के लिये गृहीत मिथ्यात्व को दूर करके शुभराग के द्वारा स्वर्ग में नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भूल में विपरीत मान्यता का सद्भाव होने से राग से लाभ मानकर और देव पद में सुख मानकर वहाँ से परिभ्रमण करते हुए तीव्र अज्ञान के कारण एकेन्द्रिय-निगोद की तुच्छ दशा में अनन्तकालतक अनन्त दुःख प्राप्त किये। अपने स्वरूप को समझने की परवाह न करने से और सम्यग्ज्ञान का तीव्र विरोध करने से निगोददशा होती है, जहाँ स्थूल ज्ञानवाले अन्य जीव उस जीव के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करते।

कभी निगोददशा में कषाय की मन्दता करके जीव वहाँ से मनुष्य हुआ और कदाचित् धर्म की जिज्ञासा से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर व्यवहार मिथ्यात्व को (गृहीत मिथ्यात्व को) दूर किया, किन्तु आत्मस्वरूप को नहीं पहिचाना; इसलिये जीव अनन्तानन्त काल से चारों गतियों में दुःखी होता रहता है। यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर अपने आत्मस्वरूप का सूक्ष्मदृष्टि से विचार करे और स्वयं ही सत् स्वरूप का निर्णय करे तो जीव की महाभयंकर भूल दूर हो, सुख प्राप्त हो और जन्म-मरण का अन्त हो।

जिसे आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान के द्वारा अनादिकालीन महाभूल को दूर करने का उपाय करना हो उसे इसके लिये आत्मज्ञानी सत् पुरुष से शुद्धात्मा का सीधा स्वरूप सुनना चाहिये और उसका स्वयं अभ्यास करना चाहिये। ध्यान रहे, मात्र सुनते रहने से अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता, किन्तु अपने स्वभाव के साथ मिलाकर स्वयं निर्णय करना चाहिये।

जीव स्वयं अनन्तबार तीर्थंकर भगवान के समवसरण में जाकर उनका उपदेश सुन आया है; किन्तु स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा किये बिना उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ। 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु वह पर का कुछ भी नहीं कर सकता, पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता' ऐसी निश्चय की सच्ची बात सुनकर उसे स्वीकार करने की जगह जीव इन्कार करता है कि 'यह बात अभी अपने लिये काम की नहीं है; कुछ पराश्रय चाहिये और पुण्य भी करना चाहिये; पुण्य के बिना अकेला आत्मा कैसे टिक सकता है ?' इसप्रकार अपनी पराश्रय की विपरीत मान्यता को दृढ़ करके सुना। सत् को सुनकर भी उसने उसे आत्मा में ग्रहण नहीं किया, इसलिये मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ।

अज्ञानी जीवों को अनादिकाल से ही आत्मा के स्वावलम्बी शुद्ध स्वरूप की समझ नहीं हुई। उसकी श्रद्धा और उसका ज्ञान करने का जो मार्ग है वह नहीं रुचा, किन्तु सही पराश्रय ही रुचा है, इसलिये सत् को सुनते हुये ऐसा लगता है कि अरे! यदि आत्मा का स्वावलम्बी स्वरूप मानेंगे तो समाज-व्यवस्था कैसे निभेगी ? जबतक समाज में रह रहे हैं, तबतक तो एक-दूसरे का कुछ तो करना चाहिये न ? ऐसी पराश्रित मान्यता से संसार का पक्ष नहीं छोड़ा और आत्मा को नहीं पहिचाना।

अरे! वस्तु के स्वाधीन सत्यस्वरूप को स्वीकार करने से जीव को कदापि हानि नहीं होती और समाज को भी सत्य तत्त्व को मानने से कदापि कोई हानि नहीं होगी। समाज अपनी अज्ञानता से ही दुःखी है और वह दुःख अपनी यथार्थ समझ से दूर हो सकता है, इसलिये यथार्थ समझ करनी चाहिये। जो यह मानता है कि सत्य समझ से हानि होगी, वह सत्य का महान् अनादर करता है। मिथ्यात्व का महापाप दूर करने के लिये सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्व की सच्ची पहचान करने का अभ्यास करना अति आवश्यक है। अतः **सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और उनके द्वारा कहे गये अनेकान्तमय सत्**

शास्त्रों का यथार्थ निर्णय करना चाहिये। स्वयं जिज्ञासु होकर, हिताहित का निर्णय करके, शुद्धआत्मा की बात सुनकर सत्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। यही मिथ्यात्व दूर करने का उपाय है।

भगवान स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करके पूर्ण दशा को प्राप्त हुये हैं, इसलिये उनके उपदेश में भी मुख्यता से ही पुरुषार्थ द्वारा आत्मा की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करने की बात आती है।

भगवान के उपदेश में नवतत्त्वों का स्वरूप बताया जाता है। **यदि आत्मा–आत्मा ही कहा करे तो अज्ञानी जीव कुछ भी नहीं समझ सकेंगे; इसलिये यह समझाया जाता है कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव क्या है ? उसकी विकारी या अविकारी दशा क्या है ? आत्मा के सुख का कारण क्या है ? दुख का कारण क्या है ? संसार मार्ग क्या है ? नवतत्त्व क्या हैं? देव, गुरु, शास्त्रा क्या हैं ? इत्यादि। किन्तु उसमें आत्मा का स्वरूप समझने की मुख्यता होती है।**

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु अवस्था में विकारीं और अविकारी भेद हैं, पुण्य-पाप विकार है और उसका फल आस्रव तथा बंध है। ये पुण्य-पाप और आस्रव-बंध जीव के दुख के कारण हैं, इसलिये वे त्याज्य हैं। आत्मस्वरूप को यथार्थ समझकर पुण्य-पाप को दूर करके स्थिरता करना संवर, निर्जरा और मोक्ष है। ये तीनों आत्मा के सुख के कारण हैं, इसलिये वे प्रकट करनेयोग्य हैं। जीव स्वयं ज्ञानमय है, परन्तु वह ज्ञानरहित अजीव वस्तु के लक्ष से भूल करता है, इसलिये जीव-अजीव की भिन्नता समझाई जाती है, इसप्रकार नवतत्त्व का स्वरूप समझना चाहिये।

अपने स्वभाव की समझ के द्वारा भूल को स्वयं दूर करे तो ही वह सुखी हो सकता है। जो यथार्थ समझ के द्वारा भूल को दूर करता है, वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, सुखी धर्मात्मा है, जो यथार्थ समझ के बाद

उस समझ के बल से आंशिक राग को दूर करके स्वरूप की एकाग्रता को क्रमशः साधता है, **वह श्रावक** है। जो विशेष राग को दूर करके, सर्वसंग का परित्याग करके स्वरूप की रमणता में बारम्बार लीन होता है, वह मुनि है और जो सम्पूर्णस्वरूप की स्थिरता करके शुद्धदशा को प्रगट करते हैं, वे सर्वज्ञदेव हैं। उनमें से जो शरीरसहित दशा में विद्यमान हैं वे **अरिहन्त** हैं, जो शरीर रहित हैं वे **सिद्ध भगवान** है। अरहन्त भगवान ने दिव्यध्वनि में जो वस्तुस्वरूप दिखाया है, उसे **'श्रुत' (शास्त्र)** कहते हैं।

इनमें से अरहन्त और सिद्ध देव हैं, साधक, संत, मुनि, गुरु हैं और सत्श्रुत शास्त्र है। जो इन सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थतया पहचानता है, उसकी गृहीत मिथ्यात्वरूपी महाभूल दूर हो जाती है। यदि देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप को जानकर अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करे तो अनन्त संसार का कारण महापापरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर हो जाये और सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हो।

सच्चेदेव के स्वरूप में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है। संत, मुनि के स्वरूप में संवर और निर्जरातत्त्व का समावेश होता है। जैसा सच्चेदेव का स्वरूप है वैसा ही शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म में अजीव, आस्रव तथा बन्ध का समावेश होता है। अरिहन्त और सिद्ध में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है। अरहंत-सिद्ध के समान शुद्ध स्वरूप जीव का स्वभाव है और स्वभाव ही धर्म है।

उपर्युक्त तत्त्वस्वरूप को सर्वप्रथम जानकर गृहीत मिथ्यात्व का (व्यवहार मिथ्यात्व का) पाप दूर करे।

□

स्वयं अपने को ठगता है और मानता है कि हम लाभ में हैं। इसीप्रकार जगत अनादि से लुट रहा है। – **द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–182**

द्रव्य और पर्याय

आत्मा अपनी शक्ति से त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु उसकी वर्तमान पर्याय बदलती रहती है। अर्थात् शक्ति-स्वभाव से स्थिर रहकर भी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। अवस्था में स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर जीव मिथ्यात्वरूप महाभूल को उत्पन्न करता है; वह भूल अवस्था में है और क्योंकि अवस्था बदलती है, इसलिये वह भूल सच्ची समझ के द्वारा स्वयं दूर कर सकता है। पर्याय में भूल करनेवाला जीव स्वयं है, इसलिये वह स्वयं ही भूल को दूर कर सकता है।

जीव अपने स्वरूप को भूल रहा है, वह अजीव को अपना मानता है। इसकारण पुण्य-पाप, आस्रव-बंध होता है। यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्तकर लेने पर उसे अपना स्वरूप अजीव से और विभाव से भिन्न लक्ष में आ जाता है, इससे पुण्य-पाप, आस्रव-बंध क्रमशः दूर होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष होता है। इसलिये सर्वप्रथम स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मिथ्यात्व को यथार्थ समझ के द्वारा दूर करके आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के द्वारा अपने स्वरूप के मिथ्यात्वरूप महाभ्रम का अभाव करना चाहिये।

यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते ही संवर-निर्जरारूप धर्म प्रारम्भ हो जाता है और अनन्त संसार के मूलरूप मिथ्यात्व का ध्वंस होता है। अनन्त परवस्तुओं से अपने को हानि-लाभ होता है – ऐसी मान्यता दूर होने पर अनन्त राग-द्वेष की असत् क्रिया का त्याग और ज्ञान की सत् क्रिया का ग्रहण होता है। सर्वप्रथम यही धर्म की सत् क्रिया है। इसे समझे बिना धर्म की क्रिया किंचित् मात्र भी नहीं हो सकती। देह तो जड़ है; उसकी क्रिया के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है ? उसकी विकारी तथा अविकारी अवस्था किसप्रकार की होती है? और विकारी अवस्था के समय कैसे निमित्त का संयोग होता है एवं अविकारी अवस्था के समय निमित्त

स्वयं छूट जाते हैं। इसप्रकार स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक नवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये।

प्रश्न :– आत्मा को सम्यग्ज्ञान किस दशा में प्रगट हो सकता है?

उत्तर :– गृहस्थदशा में आत्मप्रतीति की जा सकती है। एतदर्थ पहले तो निःशंक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये; सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने पर स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा विकार को दूर करके जीव अविकारीदशा को प्रगट किये बिना नहीं रहता। अल्पपुरुषार्थ के कारण कदाचित् विकार के दूर होने में देर लगे, तथापि उसके दर्शन-ज्ञान में मिथ्यात्व नहीं रहता।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर जीव को ऐसा निश्चय होता है कि मेरा स्वभाव शुद्ध निर्दोष है; तथापि मेरी अवस्था में जो विकार और अशुद्धता है वह मेरा दोष है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; इसलिये वह त्याज्य है, हेय है। जबतक मेरा लक्ष किसी अन्य वस्तु में या विकार में रहेगा तबतक अविकारी दशा नहीं होगी; किन्तु जब उस संयोग और विकार पर से अपने लक्ष को हटाकर मैं अपने शुद्ध अविकारी ध्रुवस्वरूप में लक्ष को स्थिरता करूँगा, तब विकार दूर होकर अविकारी दशा प्रगट होगी।

मेरा ज्ञानस्वरूप नित्य है और रागादि अनित्य हैं; एकरूप ज्ञानस्वरूप के आश्रय में रहने पर रागादि दूर हो जाते हैं; पर्याय तो क्षणिक है और वह प्रतिक्षण बदलती रहती है; इसलिये उसके आश्रय से ज्ञान स्थिर नहीं रहता, किन्तु उसमें वृत्ति उद्भूत होती है, इसलिये अवस्था का लक्ष छोड़ना चाहिये और त्रैकालिक शुद्धस्वरूप पर लक्ष स्थापित करना चाहिये। यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो निश्चय स्वभाव पर लक्ष करके व्यवहार का लक्ष छोड़ने से शुद्धता प्रगट होती है।

चारित्र की संपूर्ण शुद्धता एकसाथ प्रगट नहीं होती; किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जबतक अपूर्ण शुद्धदशा रहती है, तबतक साधकदशा कहलाती है। यदि कोई कहे कि शुद्धता कितनी प्रगट होती है ? तो

कहते हैं कि पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से जो आत्मस्वभाव प्रतीति में आया है, उस स्वभाव की महिमा के द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्य में एकाग्रता करता है। उतनी ही शुद्धता प्रगट होती है। शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर अन्त में पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है और सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है। मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।

द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह कभी भी दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता, इसका आधार यह है कि दूध मिटकर दही बन जाता है, फिर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता ? □

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। जैसे – बर्फ की बड़ी शीतल शिला होती है, उसीप्रकार आत्मा शीतलता की विशला शिला है, अनंत–अनंत अतीन्द्रिय आनन्द की विभुता की शिला है। इसप्रकार अनन्तानन्त गुणों की पूर्णानन्द से भरी हुई विशाल शिला है। वस्तु तो सदाकाल ज्यों की त्यों रही है। भले ही नरक, निगोद आदि के अनन्त भव किये हों तथापि वस्तु ज्ञानानन्दस्वरूप ज्यों की त्यों विद्यमान है; उसका अंतर में विश्वास आना चाहिए।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–191

वस्तु की नित्यानित्यात्मकता

वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता और जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती तथा वस्तु में शतत् रूपान्तर होता रहता है अर्थात् स्थिर रहकर बदलना वस्तु का स्वरूप है। शास्त्रीय भाषा में इसी नियम को 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' के रूप में कहा गया है। उत्पाद-व्यय का अर्थ है अवस्था का रूपान्तरण या अनित्यता और ध्रौव्य का अर्थ है वस्तु का स्थिर रहना, नित्य रहना। यह द्रव्य का स्वभाव है।

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है; किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य अपने स्वरूप में स्थिर है, इसलिये वह दूसरे में कभी नहीं मिलता। इसे ही वस्तु का अनेकान्त स्वरूप कहा जाता है अर्थात् वस्तु अपने स्वरूप से है और दूसरे स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जैसे लोहा लोहे के स्वरूप की अपेक्षा से है; किन्तु वह लकड़ी के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जीव जीवस्वरूप से है; किन्तु वह जड़स्वरूप से नहीं है। ऐसा स्वभाव है; इसलिये कोई वस्तु अन्य वस्तु में नहीं मिल जाती, किन्तु सभी वस्तुयें अपने-अपने स्वरूप से भिन्न रहकर ही परिणमती हैं।

जीव अपने वस्तुस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय की अपेक्षा से बदलता रहता है; किन्तु जीव जीवरूप में ही बदलता है। जीव की अवस्था बदलती है; इसलिये संसारदशा का नाश करके सिद्धदशा हो सकती है। अज्ञानदशा का नाश करके ज्ञानदशा हो सकती है और जीव नित्य है, इसलिये संसार दशा का नाश हो जाने पर भी वह मोक्षदशा में भी स्थिर वही का वही बना रहता है। इसप्रकार वस्तु को द्रव्य अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य समझना चाहिये।

परमाणु में भी उसकी अवस्था बदलती है, किन्तु किसी वस्तु का नाश नहीं होता। दूध का नाश होता हुआ दिखता है, किन्तु वास्तव में वह वस्तु का नाश नहीं है। दूध कोई मूल वस्तु नहीं है, किन्तु वह तो

बहुत से परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्था है और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्था हो जाती है, किन्तु उसमें पुद्गल परमाणुरूप वस्तु तो स्थिर बनी ही रहती है। दूध बदलकर दही हो जाने से वस्तु अन्यरूप नहीं हो जाती है। परमाणु वस्तु है, वह तो सभी अवस्थाओं में परमाणुरूप ही रहती है। वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती।

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु का कभी सर्वथा नाश नहीं होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतनवस्तु नाश को प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी? चेतन का नाश होकर क्या वह जड़ में घुस जाता है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है और जड़ सदा जड़रूप ही परिणमित होता है। वस्तु का कभी नाश नहीं होता तथा वह बदलकर अन्य वस्तुरूप भी नहीं होती।

पर्याय के बदलने पर वस्तु का नाश मान लेना अज्ञान है और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तु की पर्याय को दूसरा बदलवाता है। वस्तु कभी भी बिना पर्याय के नहीं होती और पर्याय कभी भी वस्तु के बिना नहीं होती।

जो अनेकप्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकतीं। यदि नित्य स्थिर रहनेवाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँ से आये? दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि सब अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहनेवाली मूलवस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्यायें हैं; इसलिये वह बदल जाती है; किन्तु किसी भी अवस्था में परमाणु अपने परमांणुपन को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है, द्रव्य है।

द्रव्य अंशी (संपूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अंश है। अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं। इस सामान्य- विशेष को मिलाकर वस्तु का अस्तित्व है। सामान्य विशेष के बिना कोई सत् पदार्थ नहीं होता। सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद-व्यय से युक्त है।

जो वस्तु एक समय में है, वही वस्तु त्रिकाल है; क्योंकि वस्तु का

नाश नहीं होता; किन्तु रूपान्तर होता है। वस्तु अपनी शक्ति से (सत्ता से अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई परवस्तु सहायक नहीं होती। यदि इसी नियम को सरल भाषा में कहा जाये तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।

जो मिथ्यात्व अनादिकाल से चला आ रहा है – ऐसे अनन्तदुःख का कारण एवं महापापरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए यह सब समझना आवश्यक है। यह समझ लेने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य (कर्म) दोनों बिल्कुल विभिन्न वस्तु हैं। कोई एक-दूसरे का कुछ भी नहीं करता। यदि जीव और कर्म एकत्रित हो जाये तो इस जगत में छह द्रव्य ही नहीं रह सकेंगे। जीव और कर्म सदा भिन्न ही हैं। द्रव्यों का स्वभाव अनादि-अनन्त स्थिर रहते हुए भी प्रतिसमय बदलने का हैं समस्त द्रव्य अपनी शक्ति से स्वतंत्रतया अनादि-अनन्त स्थिर रहकर स्वयं ही अपनी पर्याय को बदलते हैं। जीव की पर्याय को जीव बदलते हैं और पुद्गल की पर्याय को पुद्गल बदलते हैं। जीव न तो पुद्गल का कुछ करते हैं और न पुद्गल जीव का कुछ करते हैं। □

आत्मा का गुणगान करते–करते भगवान हो जाते हैं। कोई क्रियाकांड करते रहने से भगवान नहीं हुआ जाता, किन्तु गुणी ऐसे भगवान का गुणगान करने से, महिमा करने से भगवान हो जाते हैं। अनंत गुणों की महिमा गाते–गाते अनंत जीव केवली हो गये हैं। अनंत गुणरत्नों के भण्डार खुल गये हैं। भाई! तू पामर नहीं किन्तु प्रभु है, उसके स्वरूप का गुणगान कर।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–191

द्रव्यों की स्वतंत्रता

द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है यदि कोई कर्ता है तो उसने द्रव्य को कैसे बनाया ? वह स्वयं किसका कर्ता बना ? जगत में छह द्रव्य अपने स्वभाव से ही है, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति होती ही नहीं है। किसी भी प्रयोग के द्वारा नये जीव की अथवा नये परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो पदार्थ होता है वही रूपान्तरित होता है। जो द्रव्य है वह कभी नष्ट नहीं होता और जो द्रव्य नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता, हाँ जो द्रव्य है वह प्रतिक्षण अपनी पर्याय को बदलता रहता है ऐसा नियम है। इस सिद्धान्त को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् नित्य स्थिर रहकर बदलना कहते हैं; क्योंकि द्रव्य का कोई बनानेवाला नहीं है। इसलिए कोई सातवाँ द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्य का कोई नाश करनेवाला नहीं है। इसलिए छह द्रव्यों में से कभी कोई कम नहीं हो सकता, शाश्वतरूप से छह द्रव्य को जाना है और उन्हीं को अपने उपदेश मे दिव्यवाणी के द्वारा कहा है। सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत परम सत्यमार्ग के अतिरिक्त इन छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

एक द्रव्य की जो विशेषशक्ति होती है, वह अन्य द्रव्य में नहीं होती है; इसलिए विशेषशक्ति के द्वारा द्रव्य के स्वरूप को पहचाना जा सकता है। जैसे – ज्ञान जीवद्रव्य की विशेष शक्ति है, जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान नही है; इसलिए ज्ञानशक्ति के द्वारा जीव पहचाना जाता है।

जो शक्ति सभी द्रव्यों में होती है, उसे समान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये छहों सामान्य गुण सामान्य शक्तियाँ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, शेष जीव और पुद्गल द्रव्यों में शुद्ध पर्याय होती है और अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल द्रव्य में से पुद्गलद्रव्य में ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञातृत्व नहीं है इसलिए उसमें ज्ञान की विपरीततारूप भूल नहीं है तथा पुद्गल के सुख अथवा दुःख भी नहीं होता। सच्चे ज्ञान से सुख और विपरीत ज्ञान से दुःख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्य में ज्ञानगुण ही नहीं है। ऐसा होने से पुद्गलद्रव्य के अशुद्धदशा हो या शुद्धदशा, दोनों समान हैं। शरीर पुद्गलद्रव्य की अवस्था है, इसलिए शरीर में सुखः-दुःख नहीं होता। शरीर रोगी हो अथवा निरोगी उसके साथ सुख-दुःख का संबंध नहीं है।

छह द्रव्यों में यह एक जीव द्रव्य ही ज्ञानशक्तिवाला है। जीव में ज्ञानगुण है और ज्ञान का फल सुख-दुःख है; जो कि एक सुखगुण की अवस्थायें हैं। अतः जीव में सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं पहचानता और ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तुओं में सुख की कल्पना करता है, यह उसके ज्ञान की भूल है और उस भूल के कारण ही जीव को दुःख है। अज्ञानी जीव की अशुद्ध पर्याय है दुःखरूप है; इसलिए उस दशा को दूर करके सच्चे ज्ञान के द्वारा शुद्धदशा प्रगट करने का उपाय बताया जाता है; क्योंकि सुख जीव की शुद्धदशा में ही है।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है, परन्तु जो जीव मात्र शास्त्रों को पढ़कर अपने को ज्ञानी मानता है और सुखी होना चाहता है। वह वस्तुतः ज्ञानी नहीं है; क्योंकि शास्त्रों में ज्ञानगुण नहीं है। अतः जो द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा को पुण्य-पाप की क्षणिक अशुद्ध वृत्तियों से भिन्नरूप में यथार्थतया जानता है, वही ज्ञानी है। □

पंचपरमेष्ठी के प्रेम की अपेक्षा इस शरीर के प्रति प्रेम बढ़ जाये तो वह अनंतानुबंधी लोभ है।

– दव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–191

आत्मा का स्वभाव पक्षातिक्रान्त है

सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है। अतः वह अखण्ड आत्मा के लक्ष से प्रगट होता है, सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलम्बन नहीं है; किन्तु निर्विकल्प स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्वसुख का कारण है। मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्धरहित हूँ – ऐसा विकल्प करना भी शुभ राग है। उस शुभविकल्प का उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्परहित निर्मल गुण (पर्याय) है, उसको किसीप्रकार का अवलम्बन नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अवलम्बन है, वह संपूर्ण आत्मा को स्वीकार करता है।

एकबार विकल्प रहित होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखण्ड स्वभाव का लक्ष ही स्वरूप की सिद्धि के लिये कार्यकारी है; अखण्ड सत्यस्वरूप को जाने बिना, श्रद्धा किये बिना मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्धस्पृष्ट हूँ, इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं हैं। एकबार अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का लक्ष करने के बाद जो वृत्तियां उठती हैं, वे वृत्तियां अस्थिरता का कार्य करती हैं; परन्तु वे स्वरूप को रोकने के लिये समर्थ नहीं हैं; क्योंकि श्रद्धा में तो वृत्ति-विकल्प रहित स्वरूप है, इसलिये जो वृत्ति उठती है, वह श्रद्धा को नहीं बदल सकती। जो विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है; विकल्प रहित होकर अभेद का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्नलिखित गाथा में कही है –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे, एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि, जो सो समयसारो।।१४२।।

'आत्मा कर्म से बद्ध है या अबद्ध' – इसप्रकार दो भेदों के विचार में लगना सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, पर से भिन्न हूँ' इसप्रकार

का विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्ति के, नय के पक्षों का उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बंधा हुआ हूँ अथवा मैं बंधरहित मुक्त हूँ' इसप्रकार की विचार श्रेणी का उल्लंघन करके जो आत्मा का अनुभव करता है वह सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मैं अबंध हूँ – बंध मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार के भंग की विचार श्रेणी के कार्य में जो लगता है वह अज्ञानी है और उस भंग के विचार को उल्लंघन करके अभंग स्वरूप का स्पर्श करना, सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित अबन्ध शुद्ध हूँ' ऐसे निश्चय के पक्ष का जो विकल्प है, वह राग है और उस राग में जो अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

इस जीव को अनादिकाल से आत्मस्वरूप का अनुभव एवं परिचय नहीं है, अतः आत्मानुभव करने से पूर्व तत्सम्बन्धी विकल्प उठे बिना नहीं रहते, वृत्तियों का ऐसा उफान होता है कि 'मैं कर्म के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ; ऐसे दो नयों के दो विकल्प उठते हैं; परन्तु कर्म के सम्बन्ध से युक्त हूँ अथवा कर्म के सम्बन्ध से रहित हूँ, बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ, ऐसे दो प्रकार के भेद का भी एक स्वरूप में कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नयपक्ष की अपेक्षाओं से परे है। एकप्रकार के स्वरूप में दो प्रकार की अपेक्षायें नहीं हैं। मैं शुभाशुभ भाव से रहित हूँ – ऐसे विचार में लगना भी एक पक्ष है तथा स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है, उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसके सिवाय सम्यग्दर्शन प्रगट करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।' – ध्यान रहे, यह भी एक पक्ष है।

देह की किसी क्रिया से सम्यक्त्व नहीं होता, जड़कर्मों से भी सम्यक्त्व नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभराग के लक्ष से भी सम्यक्त्व नहीं होता और मैं पुण्य-पाप के परिणामों से रहित ज्ञायक हूँ, ऐसा विचार भी स्वरूप का अनुभव कराने के लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे विचार में जो अटका, वह भेद के विचार में अटक

गया है, आत्मा का स्वरूप तो ज्ञाता-द्रष्टा है, उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

जो वस्तु है वह अपने आप परिपूर्ण स्वभाव से भरी हुई है; आत्मा का स्वभाव पर की अपेक्षा से रहित एकरूप है। मैं कर्मों के संबंध से युक्त हूँ अथवा कर्मों के संबंध से रहित हूँ, इसप्रकार की अपेक्षाओं से उस स्वभाव का लक्ष नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है; परन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' इसप्रकार के विकल्प को भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञाता-दृष्टा निरपेक्ष स्वभाव का लक्ष करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

अनादिकाल से परलक्ष किया; किन्तु स्वभाव का लक्ष नहीं किया। शरीरादि में सुख नहीं है, शुभराग में भी सुख नहीं है। शुभराग रहित आत्मा के स्वरूप के विचार से भी सुख प्राप्त नहीं होता। स्वरूप है – इसप्रकार के भेद-विचार में भी तेरा सुख नहीं है; इसलिये उस भेद के विचार में अटक जाना तो अज्ञानी का कार्य है पर उस नयपक्ष के भेद का लक्ष छोड़कर अभेद ज्ञातास्वभाव का लक्ष करना ही सम्यग्दर्शन है और उसी में सुख है। अभेदस्वभाव का लक्ष कहो, ज्ञातास्वरूप का अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो वह सब यही है।

अखण्डानन्द अभेद आत्मा का लक्ष नय के द्वारा नहीं होता। कोई किसी महल में जाने के लिये चाहे जितनी तेजी से मोटर दौड़ाये; किन्तु वह महल के दरवाजे तक ही जायेगी, मोटर के साथ महल के अन्दर कमरे में नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहाँ तक भीतर ले जाये; किन्तु अन्त में तो मोटर से उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है, इसीप्रकार नयपक्ष के विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ायें, 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूप के आँगन तक ही जाया जा सकता है, किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता; नयपक्ष का ज्ञान उस स्वरूप के आँगन में आने के लिये

आवश्यक है।

"मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूप को नहीं रोक सकते, मैं विकार करूं तो कर्मों को निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते; क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक-दूसरे का कुछ नहीं करते, मैं जड़ का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो राग-द्वेष होता है, उसे कर्म नहीं कराता तथा वह परवस्तु में नहीं होता; किन्तु मेरी अवस्था में होता है, वह राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चय से मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञानस्वरूप है" – इसप्रकार सभी पहलुओं (नयों) का ज्ञान पहले करना चाहिये; किन्तु जबतक इतना करता है तबतक भी भेद का लक्ष है। भेद के लक्ष से अभेद आतम-स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, तथापि पहले उन भेदों को जानना चाहिये, जब इतना जान ले तब समझना चाहिये कि वह स्वरूप के आँगन तक आया है, बाद में जब अभेद का लक्ष करता है, तब भेद का लक्ष छूट जाता है और स्वरूप का अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्ष के विचार होते हैं; परन्तु वे नयपक्ष के कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक नहीं होते। □

सिद्ध कहीं नीचे नहीं उतरते, परन्तु साधक जीव कहता है कि हे सिद्ध भगवान! आप कहीं नीचे नहीं आते; इसलिए मैं ज्ञान–दर्पण में एकाग्र होकर आपको अपने ज्ञान–दर्पण में नीचे उतारता हूँ

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–192

उपसंहार

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है, उसका मात्र अखण्डस्वभाव के साथ ही संबंध है, अखण्ड द्रव्य जो भंग-भेद रहित है, वही सम्यग्दर्शन को मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय को स्वीकार नहीं करता; किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है उसका संबंध निश्चय व्यवहार दोनों के साथ है अर्थात् निश्चय अखण्डस्वभाव को तथा व्यवहार में पर्याय के भंग भेदों को सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है, किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शन का एक ही विषय अखण्ड द्रव्य है; पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

सम्यग्दर्शन् का विषय अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद नहीं है। द्रव्य- गुण- पर्याय से अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शन को मान्य है अभेद वस्तु का लक्ष करने पर जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, वह सामान्य वस्तु के साथ अभेद हो जाती है सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता; एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शन का विषय है। आत्मा तो मात्र सम्यग्दर्शन को प्रतीति में लेता है; किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य-विशेष सबको जानता है। सम्यग्दर्शन पर्याय को और निमित्त को भी जानता है; सम्यग्दर्शन को भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिकभाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्याय को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, मात्र वस्तु का जब लक्ष किया, तब श्रद्धा सम्यक् हुई, साथ ही साथ सम्यग्ज्ञान हुआ। ज्ञान सम्यक् कब हुआ ? ज्ञान का स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है, जब ज्ञान ने संपूर्ण द्रव्य को, प्रगट पर्याय को और विकार को तदवस्थ जानकर इसप्रकार का विवेक किया कि 'जो

परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूँ और जो विकार है सो मैं नहीं हूँ' तब वह सम्यक् हुआ। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्याय को और सम्यग्दर्शन की विषयभूत परिपूर्ण वस्तु को तथा अवस्था की कमी को तदवस्थ जानता है, ज्ञान में अवस्था की स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चय को ही (अभेदस्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी (साथ ही रहनेवाला) सम्यग्ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों को बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनों को न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहार को लक्ष करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहार को जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान निश्चय-व्यवहार का विवेक करता है; इसलिये वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि व्यवहार के लक्ष को छोड़कर निश्चय को स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन के विषय में मोक्षपर्याय और द्रव्य से भेद नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है वह सम्यग्दर्शन को मान्य है। बन्ध-मोक्ष सम्यग्दर्शन को मान्य नहीं; बन्ध-मोक्ष की पर्याय, साधकदशा का भंग-भेद इन सभी को सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्ष का परमार्थ कारण है। पंच महाव्रत आदि को अथवा विकल्प को मोक्ष का कारण कहना सो स्थूल व्यवहार है व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक अवस्था को मोक्ष का कारण कहना सो भी व्यवहार है; क्योंकि उस साधक अवस्था का भी जब अभाव होता है, तब मोक्षदशा प्रगट होती है अर्थात् वह अभावरूप कारण है; इसलिये व्यवहार है।

बाह्य व्यवहार क्रिया तो ज्ञान का कारण नहीं है, किन्तु जो अंतरंग में व्यवहार आचरण के मंदकषायरूप परिणाम होते हैं वे परिणाम भी शास्त्रज्ञान होने के कारण नहीं होते और स्वभाव का ज्ञान तो शास्त्रज्ञान भी पार है। शास्त्रज्ञान के राग के अवलम्बन को दूर करके जब

परमात्मस्वभाव का अनुभव करता है उस समय सम्यक्श्रद्धा होती है। जिस समय श्रद्धा में राग का नाश करके निज परमात्मस्वभाव को अपना जाना उस समय जीव को परमात्मा ही उपादेय है। आत्मा तो त्रिकाल परमात्मा है, किन्तु जब राग के आलम्बनरहित होकर उसकी प्रतीति करता है तब वह उपादेयरूप होता है, वह राग के द्वारा नहीं जाना जाता।

उपवास के शुभपरिणामों से आत्मा समझ में नहीं आता। कोई भी शुभपरिणाम सम्यक्ज्ञान की रीति नहीं है, किन्तु जब स्वभाव के लक्ष से शास्त्र का यथार्थ अर्थ समझता है तब ज्ञान का व्यवहार सुधरता है पहले ज्ञान के आचरण सुधरे बिना चारित्र के आचरण नहीं सुधरते। यदि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की रीति को ही नहीं जाने तो वे कहाँ से होंगे ? अनेक जीव सम्यग्ज्ञान के उपाय को नहीं समझे हैं। व्यवहार का निषेध करके परमार्थस्वभाव को समझे बिना व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

सच्ची समझ के प्रयत्न से ही व्यवहार-सम्यक्त्व होता है; किन्तु यह व्यवहार-सम्यक्त्व भी निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। यदि देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष में ही रुक जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। जिस समय चिन्मात्र स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान करता है उस समय ही सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान प्रगट होता है। चैतन्य की श्रद्धा चैतन्य के द्वारा ही होती है – राग के द्वारा या परके द्वारा नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं के आश्रय से कषाय की मन्दता नहीं होती। और कषाय की मन्दता से पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा नहीं होती।

दयादि के परिणामों का पुरुषार्थ तो करते हैं, किंतु वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है ऐसी व्यवहारश्रद्धा का उपाय उससे भिन्न प्रकार का है। पर-जीव के कारण या पर-द्रव्यों के कारण मेरे दयादिरूप परिणाम हुए हैं, अथवा कर्म के कारण रागादि हुए – ऐसी मान्यतापूर्वक कषाय की मन्दता करे किन्तु उस मन्दकषाय में व्यवहार-श्रद्धा करने की

शक्ति नहीं है, तो फिर उससे सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है।

पर के कारण मेरे परिणाम नहीं होते, मैं अपने से ही कषाय की मन्दता करता हूँ, पर के कारण या कर्म के कारण मेरी पर्याय में रागादि नहीं होते – ऐसी पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा व्यवहार-श्रद्धा है। मिथ्यात्व के रस को मन्द करके पर्याय की स्वतंत्रता की श्रद्धा करने की जिसकी शक्ति नहीं है उस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो जीव जड़ की क्रिया अथवा कर्म को लेकर आत्मा के परिणाम मानते हैं उन्होंने परिणामों की स्वतंत्रता भी नहीं मानी है। जिनके अशुभ परिणाम होते हैं ऐसे जीवों की अभी बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो मन्दकषाय वाले जीवों की बात है। जो जीव अपने परिणामों की स्वतंत्रता को नहीं जानते उनके मन्दकषाय होने पर भी व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती।

आचार्य कहते हैं कि "एकबार स्वाश्रय की श्रद्धा करके इतना तो कह कि मेरे स्वभाव को 'पर का आश्रय नहीं है',बस, इसप्रकार स्वाश्रय की श्रद्धा करने से तेरी मुक्ति निश्चित है।" स्वभाव से सभी आत्मायें प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुता को मान लिया, वह प्रभु हो गया।

इसप्रकार प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य सत्समागम द्वारा स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा करना है।

अनेक जीव दयारूप परिणामों वाले होते हैं; तथापि वे शास्त्रों का सच्चा अर्थ नहीं समझ सकते; किन्तु दयारूप परिणाम शास्त्रों के समझने में कारण नहीं हैं। इसीप्रकार मौन धारण करें, सत्य बोलें और ब्रह्मचर्य आदि के परिणाम करें; फिर भी शास्त्र का आशय नहीं समझ सकते तो सम्यक्त्व नहीं होता अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है; कोई भी मन्दकषायरूप परिणाम सम्यग्ज्ञान का उपाय नहीं है।

इस समय शुभपरिणाम करने से पश्चात् सम्यग्ज्ञान का उपाय हो जायेगा, यह मान्यता मिथ्या है – यह नहीं समझ पाये तथा वर्तमान

में भी ऐसे अनेक जीव दिखायी देते हैं जो कि वर्षों से शुभपरिणाम, मंदकषाय तथा व्रत–प्रतिमा आदि करने पर शास्त्र के सच्चे अर्थ को नहीं जानते अर्थात् उनके ज्ञान की व्यवहारशुद्धि भी नहीं है, तथा जो ज्ञान की व्यवहारशुद्धि के बिना ही चारित्र की व्यवहारशुद्धि करना चाहते हैं, वे जीव ज्ञान के पुरुषार्थ को नहीं समझते।

ऐसे ही दयादि के भावरूप मंद-कषाय से भी व्यवहारशुद्धि नहीं होती और ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है, यही धर्म है। जबतक जीव इस धर्म की प्रतीति के बिना तथा वास्तविक व्यवहारज्ञान न होने से शास्त्र के सच्चे अर्थ को न समझ लें तबतक जीव के सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। दयादिरूप मंदकषाय के परिणामों से व्यवहारज्ञान की भी शुद्धि नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं से परिणामों की व्याप्ति नहीं है। कोई द्रव्यलिंगी मुनियों के साथ रहता हो और किसी के बाह्य क्रिया बराबर होती हो; तथापि एक नववें ग्रैवेयक में जाता है और दूसरा पहले स्वर्ग में; क्योंकि परिणामों में कषाय की मंदता बाह्यक्रिया से नहीं होती।

अंतरंग में जो शुभपरिणाम करता है, उनसे व्यवहारज्ञान की शुद्धि नहीं होती; किन्तु वह यथार्थज्ञान के अभ्यास से ही होती है।

ज्ञान की व्यवहारशुद्धि से भी आत्मस्वभाव का सम्यग्ज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने परमात्मस्वभाव का रागरहितरूप से अनुभव करे, तभी सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान में पराश्रय नहीं, स्वभाव का ही आश्रय है।

वस्तुस्वभाव ही स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उसे किसी के आश्रय की आवश्यक्ता नहीं है। स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। नववें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा, ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रतों का पालन ऐसे परिणाम होने पर भी चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये वे परिणाम काम में नहीं

आते। स्वभाव के लक्षपूर्वक मंदकषाय हो तो वहाँ मंदकषाय की मुख्यता नहीं रही किंतु शुद्धस्वभाव के लक्ष की ही मुख्यता है। स्वभाव की श्रद्धा को व्यवहार रत्नत्रय की सहायता नहीं होती।

कषाय की मंदतारूप आचरण के द्वारा श्रद्धा-ज्ञान का व्यवहार नहीं सुधरता। शास्त्र में जड़-चैतन्य की स्वाधीनता, उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता बतलायी है, जो यह नहीं समझता उसके ज्ञान का व्यवहार भी नहीं सुधरा है। चैतन्यस्वभाव का ज्ञान तो व्यवहार से भी पार है। आत्मज्ञान सो परमार्थज्ञान है और शास्त्र के आशय का यथार्थ ज्ञान सो ज्ञान का व्यवहार है।

जो जीव पर्याय की स्वतंत्रता मानते हुए भी पर्यायबुद्धि में अटके हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं।

जीव अंशतः स्वतंत्र हैं – ऐसी व्यवहारश्रद्धा करने की शक्ति भी कषाय की मन्दता में नहीं है। मैं अपने परिणामों में अटका हूँ, इसी से विकार होता है, पर से नहीं – ऐसी अंशतः स्वतंत्रता माने तो स्वयं उसका निषेध करे। किन्तु यदि ऐसा माने कि पर विकार कराता है, तो स्वयं कैसे उसका निषेध कर सकता है ? निमित्त या संयोग से मेरे परिणाम नहीं होते, इसप्रकार अंशतः स्वतंत्रता करके त्रिकाल स्वभाव में उस अंश का निषेध करना ही निश्चयश्रद्धा-सम्यग्दर्शन है।

यद्यपि कषाय की मन्दता उस समय की पर्याय का स्वतंत्र कार्य है, तथापि जो जीव देव, गुरु, शास्त्र से लाभ मानते हैं और कर्म से हानि मानते हैं उनके व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, तब वे अंश का निषेध करके त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा क्यों करेंगे ? कषाय की मन्दता तो अभव्य भी अनन्तबार करते हैं। पर्याय स्वतंत्र है – ऐसी आंशिक स्वतंत्रता को स्वीकार किये बिना मिथ्यात्व का रस भी यथार्थरूप से मन्द नहीं होता।

प्रश्न :– कषाय की मन्दता या मिथ्यात्व रस की मन्दता इन दोनों में से कोई भी मोक्षमार्गरूप नहीं है, तो उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर :– यहाँ दोनों के पुरुषार्थ का अन्तर बतलाना है। किन्तु

पर्याय की स्वतंत्रता स्वीकार करने से कहीं मोक्षमार्ग नहीं हो जाता। पर्याय की स्वतंत्रता भी अनन्तबार मानी तथापि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ किन्तु यहाँ व्यवहार से उन दोनों में जो अन्तर है वह बतलाना है।

कषाय की मन्दता करने से कहीं व्यवहारश्रद्धा नहीं होती, क्योंकि व्यवहारश्रद्धा का पुरुषार्थ उससे भिन्न है। यद्यपि दोनों पुण्य ओर मिथ्यात्व हैं, किन्तु मिथ्यात्व के रस की अपेक्षा से उनमें अन्तर है।

जिसप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की श्रद्धा और वादि की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व हैं, क्योंकि सुदेव मुझे तार देंगे, मेरा भला करेंगे – ऐसी मान्यता से सुदेव की श्रद्धा भी मिथ्यात्व को ही पुष्ट करती है। तथापि कुदेवादि की श्रद्धा में तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादि की श्रद्धा में मन्द, इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। दो जीव शुभभाव करते हैं, उनमें से एक अपनी पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानता तथा दूसरा शास्त्रादि के ज्ञान से पर्याय की स्वतंत्रता मानता है, उनमें पहले जीव को व्यवहारज्ञान भी यथार्थ नहीं है, दूसरे जीव को व्यवहारज्ञान है। इस अपेक्षा से दोनों के पुरुषार्थ में अन्तर समझना चाहिये। परमार्थ से दोनों समान हैं।

पर्याय को स्वतंत्र समझे बिना कौन त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होगा? व्यवहारश्रद्धा मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु पर्याय की स्वतंत्रता का ज्ञान अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने के लिये प्रयोजनभूत है। जो वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता को नहीं मानता वह सर्व विभावों से रहित चैतन्य को कैसे मानेगा? जो राग की स्वतंत्रता नहीं मानता, वह रागरहित स्वभाव को भी नहीं मान सकेंगे।

यहाँ पर यह बताया है कि मात्र कषाय की मन्दता में अनेक जीव लग जाते हैं; किन्तु उन्हें व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती, उनके मिथ्यात्वरस की यथार्थ मन्दता नहीं होती। जो जीव पर्याय की स्वतंत्रता मानते हैं, उनके कषाय की मन्दता तो सहज ही होती है, किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है। जब अपने स्वभाव को स्व से परिपूर्ण और सर्व

विभावों से रहित माने तथा पर्याय के लक्ष को गौण करके ध्रुव चैतन्यस्वभाव का आश्रय ले उस समय स्वभाव की श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है।

कुछ व्रतधारियों की तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होती; वे यह नहीं जानते कि अपने परिणाम स्वतंत्र हैं। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता। सम्यक्त्व के बिना अकेले त्यागादि के शुभ परिणामों द्वारा वस्तुस्वरूप की साधना नहीं हो सकती।

त्रैकालिक स्वभाव स्वतंत्र है, उसका प्रत्येक अंश स्वतंत्र है, आत्मा के त्रिकाल स्वभाव में रागादि परिणाम नहीं हैं; इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके पर्यायबुद्धि को छोड़ दे तभी सम्यग्दर्शन होता है, और मोक्षमार्ग भी तभी होता है।

द्रव्यलिंगी जीव पर्याय को तो स्वतंत्र मानते हैं; किन्तु पर्यायबुद्धि को नहीं छोड़ते, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय नहीं करते, इसी से उनके मिथ्यात्व रहता है। वे जीव शास्त्र में लिखा हुआ अधिक मानते हैं; किन्तु स्व में स्थिर नहीं होते। परलक्ष से पर्याय की स्वतंत्रता मानते हैं, किन्तु यथार्थतया स्वभाव में रागादि भी नहीं हैं – ऐसी श्रद्धा के बिना परमार्थ से आंशिक स्वतंत्रता की मान्यता भी नहीं कही जाती।

'कर्म विकार कराते हैं अथवा निमित्ताधीन होकर विकार करना पड़ता है' इत्यादि प्रकार से जिन्होंने पर्याय को पराधीन माना है। उन जीवों ने तो उपादान-निमित्त को ही एकमेक माना है। निमित्त के कारण अपनी पर्याय न माने, किन्तु ऐसा माने कि वह स्वतंत्र है, तथापि पर्याय में जो विकार होता है, उसे स्वरूप मानकर अटक जाये तो वह भी मिथ्यात्व है।

जो यह मानते हैं कि परद्रव्यों की क्रिया से अपने परिणाम होते हैं, उनके मन्दकषाय होने पर भी मिथ्यात्व का रस यथार्थतया मन्द नहीं पड़ता तथा शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

मेरी पर्याय परद्रव्य से नहीं होती; किन्तु स्वतंत्र मुझसे ही होती है

– इसप्रकार जब पर्याय की स्वतंत्रता को माने, तब मिथ्यात्व का रस मन्द होता है और सच्चा शास्त्रज्ञान भी होता है, उसे व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान कहते हैं, वहाँ कषाय की मन्दता है; किन्तु अभी पर्यायदृष्टि है, इसलिये सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव है वह अंशमात्र (पर्याय जितना) नहीं है, स्वभाव से परिपूर्ण और विभाव से रहित है, – ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, वही अपूर्व पुरुषार्थ एवं मोक्षमार्ग है। मन्द कषाय का पुरुषार्थ अपूर्व नहीं है, वह तो जीव ने अनन्तबार किया है, इसलिये उसे सीखना नहीं पड़ता; क्योंकि वह कोई नवीन नहीं है; किन्तु जीव ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपाय कभी भी नहीं किया, इसलिये वही अपूर्व है और वही कल्याण का कारण है।

जीवों ने श्रद्धा और ज्ञान का व्यवहार तो अनन्तबार सुधारा है, तथापि निश्चयश्रद्धा, ज्ञान के अभाव के कारण उनका हित नहीं हुआ। अधिकांश लोग धर्म के नाम पर बाह्य-क्रियाकांड में ही अटक रहे हैं और उनके व्यवहारश्रद्धा, ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता, इसलिये यहाँ यथार्थ समझाया है कि व्रत, प्रतिमा अथवा दया, दानादि के शुभ परिणामों से व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान नहीं होते, वे उसके उपाय नहीं हैं। व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान कैसे होते हैं एवं सम्यक् दर्शन-सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट होते हैं ? यहाँ यह समझाया है। सागार धर्मामृत में कहा है कि –

जिसका चित्त मिथ्यात्व से व्याप्त है – ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, मनुष्यत्व होने पर भी पशु समान अविवेकी आचरण करता होने से पशु समान है और सम्यक्त्व द्वारा जिसकी चैतन्यसम्पत्ति व्यक्त हो गई है– ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पशुत्व होने पर भी मनुष्यसमान विवेकी आचरण करता होने से मनुष्य है।

तत्त्वों के विपरीत श्रद्धानरूप मिथ्यात्वसहित जीव भले ही बाह्य शरीर से मंद कषायवान मनुष्य हो; तथापि अंतर में वह हित–अहित के विवेक से रहित होने के कारण भाव से तो पशु ही है और जिसे

तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व द्वारा चैतन्य की स्वानुभूतिरूप सम्पत्ति प्रगट हो गई है – ऐसा जीव भले ही बाह्य शरीर से पशु हो; तथापि अंतर में हित-अहित का विचार करने में चतुर होने से मनुष्य के समान है।

देखो, सम्यक्त्व के सद्भाव से पशु भी मानव कहलाते हैं और उसके अभाव से मानव भी पशु कहलाते हैं – ऐसा सम्यक्त्व का प्रभाव है।

यद्यपि समस्त जीवों में मनुष्य सबसे अधिक विचारवान माना जाता है; परन्तु उसका ज्ञान भी यदि मिथ्यात्वसहित हो तो वह मन्द-कषायवान होने पर भी हित-अहित का विचार नहीं कर सकता, इसलिये मिथ्यात्व के प्रभाव से वह मनुष्य भी विवेकरहित पशु समान हो जाता है, तब फिर दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या की जाय ?

और पशु मुख्यतः तो हित-अहित के विवेकरहित ही होते हैं; परन्तु कदाचित् किसी पशु का आत्मा भी यदि सम्यक्त्वसहित हो तो उसका ज्ञान हेय-उपादेयतत्त्वों का ज्ञाता हो जाता है, तब फिर जो सम्यक्त्व सहित मनुष्य हो, उसकी महिमा की तो बात ही क्या है ?

त्रिकाल अखण्ड वस्तु ही निश्चयमोक्ष का कारण है; किन्तु परमार्थतः तो वस्तु में कारण-कार्य का भेद भी नहीं है, कार्य-कारण का भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तु में कार्य-कारण के भेद के विचार से विकल्प होता है; इसलिये वह भी व्यवहार है; तथापि व्यवहार में भी कार्य-कारण के भेद हैं अवश्य। यदि कार्य-कारण भेद सर्वथा न हो तो मोक्षदशा को प्रगट करने के लिये भी नहीं कहा जा सकता; इसलिये अवस्था में साधक-साध्य का भेद है, परन्तु अभेद के लक्ष के समय व्यवहार का लक्ष नहीं होता; क्योंकि व्यवहार के लक्ष में भेद होता है और भेद के लक्ष में परमार्थ-अभेदस्वरूप लक्ष में नहीं आता, इसलिये सम्यग्दर्शन के लक्ष में अभेद ही होता है; एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

अनादिकाल से संसारी जीव ने आत्मा के अखण्ड आनन्दरस को

सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं जाना, इसलिये पर में और विकल्प में जीव आनन्दरस मान रहा है; परन्तु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूँ, उसी में मेरा आनन्दरस है। पर में कहीं भी मेरा आनन्दरस नहीं है; इसप्रकार स्वभाव दृष्टि के बल से एकबार सब विषयसुख नीरस बना दे। जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी मेरी शांति के साधक नहीं हैं, मेरी शांति मेरे स्वरूप में है; इसप्रकार स्वरूप के रसानुभव में समस्त संसार को नीरस बना दे तो तुझे सहजानन्दस्वरूप के अमृत रस की अपूर्व शांति का अनुभव प्रगट होगा, उस शान्ति का उपाय सम्यग्दर्शन ही है; क्योंकि जन्म-मरणरूप संसार का अभाव सम्यग्दर्शन से होता है

अनन्तकाल से अनंत अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्तकाल में अनंत जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके मुक्ति को प्राप्त भी हुये हैं। जिन भावों ने संसारपक्ष अनादि से ग्रहण किया है और सिद्ध का पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया; परंतु अब सिद्ध का पक्ष करके अपने और सिद्ध स्वरूप को जानकर संसार का अभाव करने का अवसर आया है और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। धर्म के लिये प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता है –

1. क्षेत्रविशुद्धि, 2. यथार्थ बीज।

1. **क्षेत्रविशुद्धि** :– संसार की भोगसामग्री आदि अशुभनिमित्तों के प्रति जो आसक्ति है, उसमें कषाय की मंदता, देव, गुरु के प्रति भक्ति तथा सत् की रुचि, आदि का होना क्षेत्रविशुद्धि है। वह सर्वप्रथम होती ही है।

किन्तु केवल क्षेत्रविशुद्धि से ही धर्म नहीं होता। क्षेत्र-विशुद्धि तो प्रत्येक जीव ने अनेकबार की है; क्षेत्रविशुद्धि (यदि भान सहित हो) तो बाह्यसाधन है; व्यवहारसाधन है।

यद्यपि क्षेत्रविशुद्धि के बिना धर्म नहीं हो सकता; किन्तु क्षेत्रविशुद्धि के होने पर भी यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

मेरा स्वभाव निरपेक्ष बन्ध-मोक्ष के भेद से रहित, स्वतंत्र, परनिमित्त के आश्रय से रहित है; स्वाश्रय स्वभाव के बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है; इसप्रकार अखंड निरपेक्षस्वभाव की निश्चयश्रद्धा का होना सो यथार्थ बीज है। वही अन्तर-साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीव ने कभी अनादिकाल में स्वभाव की निश्चयश्रद्धा नहीं की है। इस श्रद्धा के बिना अनेक बार बाह्यसाधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

इसलिये धर्म में मुख्यसाधन है यथार्थ श्रद्धा और जहाँ यथार्थ श्रद्धा होती है, वहाँ बाह्यसाधन सहज होते हैं। बिना यथार्थ श्रद्धा के बाह्यसाधन से कभी धर्म नहीं होता।

इसलिये प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा करना है। अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यपर्याय और फिर उसमें उत्तम जैनधर्म तथा सत्-समागम का योग मिलने पर भी यदि स्वभावबल से सत् की श्रद्धा नहीं की तो फिर चौरासी के जन्म-मरण में ऐसी उत्तम मनुष्यपर्याय मिलना दुर्लभ है। □

धीर होकर ज्ञान को जरा विचार में लगा; जिन्हें भूलना है, जिन्हें छोड़ना है, उन सबको भूलकर विचार कर। किसी भी समय पर को तो तुझे छोड़ना ही है, तो इसी समय उसे भूलकर तू अपने को सम्हाल।

– द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, पृष्ठ–194